

THE FREE INDOLOGICAL COLLECTION

WWW.SANSKRITDOCUMENTS.ORG/TFIC

FAIR USE DECLARATION

This book is sourced from another online repository and provided to you at this site under the TFIC collection. It is provided under commonly held Fair Use guidelines for individual educational or research use. We believe that the book is in the public domain and public dissemination was the intent of the original repository. We applaud and support their work wholeheartedly and only provide this version of this book at this site to make it available to even more readers. We believe that cataloging plays a big part in finding valuable books and try to facilitate that, through our TFIC group efforts. In some cases, the original sources are no longer online or are very hard to access, or marked up in or provided in Indian languages, rather than the more widely used English language. TFIC tries to address these needs too. Our intent is to aid all these repositories and digitization projects and is in no way to undercut them. For more information about our mission and our fair use guidelines, please visit our website.

Note that we provide this book and others because, to the best of our knowledge, they are in the public domain, in our jurisdiction. However, before downloading and using it, you must verify that it is legal for you, in your jurisdiction, to access and use this copy of the book. Please do not download this book in error. We may not be held responsible for any copyright or other legal violations. Placing this notice in the front of every book, serves to both alert you, and to relieve us of any responsibility.

If you are the intellectual property owner of this or any other book in our collection, please email us, if you have any objections to how we present or provide this book here, or to our providing this book at all. We shall work with you immediately.

-The TFIC Team.

व्याख्यान सार संग्रह पुस्तक माला का २० वाँ पुष्प.

श्री मज्जवाहिराचार्य के—
श्रीभगवत्की सूत्र पर व्याख्यान

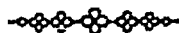
सम्पादक—

श्री जैन हितेच्छु श्रावक मंडल रतलाम के तरफ से
पं० शोभाचन्द्रजी भारिल्ल न्यायतीर्थ व्यावर.



द्रव्य सहायक—

श्रीमान् सेठ इन्दरचन्दजी साहव गेवडा
कुचेरावाला, मद्रास.



प्रकाशक—

मंत्री श्रीसाधुमार्गी जैन—

पूज्यश्री हुक्मीचन्दजी महाराज की सम्प्रदाय के
हितेच्छु श्रावक मंडल रतलाम.



वीराब्द २४७३-

विक्रमाब्द २००३

}

अर्द्ध—मूल्य

११)

}

प्रथमावृत्ति

१०००

प्राप्तिस्थान—
 श्री साधु मार्गी जैन—
 पूज्य श्री हुक्मीचन्दजी महाराज
 की सम्प्रदाय का
 हितेच्छु श्रावक-मण्डल,
 रतलाम [मालवा]



प्रथमावृत्ति
 १००० एक हजार
 ★

मुद्रक—
 राधाकृष्णात्मज बालमुकन्द शर्मा
 श्री शारदा प्रिंटिंग प्रेस, रतलाम.



आप क्या देंगे ?



क्या आप जानते हैं कि आपको यह अनुपम साहित्य देखने को कैसे मिला इस साहित्य के सर्जक श्रीमज्जेनाचार्य पूज्यवर्य श्री जवाहिरलालजी म० सा० भौतिक देह से आज विद्यमान नहीं हैं फिर भी उनका प्रवचन रूप सूत्र की तल-स्पर्शी विशद व्याख्या आप के समक्ष आज विद्यमान है और भविष्य में भी रहेगी ? इसके उत्तर में यही कहना होगा कि यह सब जिसके द्वारा हमें प्राप्त होसका वह श्री सा० जैन पूज्य श्री हुक्मीचन्द्रजी महाराज की सम्प्रदाय का हितेच्छु श्रावक मण्डल आफिस है ।

मण्डल की आफिस आज बीस वर्ष से रतलाम (मालवा) में है जिसके संचालक श्री साधुमार्गी जैन समाज के अग्रगण्य नेता श्रीमान् स्वर्गीय सेठ वरदभाणजी साहव एवं अवैतिनक अनुभवी मंत्री श्री बालचन्द्रजी श्रीश्रीमाल हैं । इनके अथक परिश्रम से ही मण्डल आफिस समाज सेवा के ऐसे २ उत्तम साधन का संग्रह कर सका है । पूर्व समय में श्रीमज्जेनाचार्य पूज्यवर्य श्री १००८ श्री उदयसागरजी महाराज व पूज्यवर्य श्री १००८ श्री श्रीलालजी महाराज साहेब बड़े ही प्रतापी एवं अतिशयधारी तथा तत्सामयिक प्रसिद्ध वक्ता थे ।

उनके प्रवचन भी प्रतिभाशाली एवं प्रभावोत्पादक थे किन्तु समाज में कोई संगठन बल न होने से उनके प्रवचनों का संग्रह नहीं हो सका । इसी तरह अन्य भी सामुहिक रूप से करने के कार्य नहीं कर सकते थे परन्तु मण्डल का संगठन होने और उसका आफिस सेवा भावी कार्यकर्त्ताओं के हाथ में आने से मण्डल ने पूज्य श्रीजवाहिर-लालजी म० सा० के प्रवचनों का संग्रह किया तथा अन्य भी समाज सेवा के कई कार्य किये हैं । इसी से पृथक् पृथक् विषय पर मननीय एवं बोधप्रद साहित्य का लाभ हमें प्राप्त हो सका है ।

मण्डल ने शिक्षा के विषय में भी अच्छी सेवा वजाई व वजा रहा है । कुछ वर्षों पहले एक विद्यालय एवं एक छात्रालय भी खोला था किन्तु आर्थिक संकोच तथा अनेक कठिनाइयों के कारण हाल में यह चालू नहीं है किन्तु श्री धार्मिक परीक्षा बोर्ड जो मण्डल ने संवत् १९८६ में स्थापित किया वह अभी चालू है । इस परीक्षा-बोर्ड के द्वारा सैकड़ों ही नहीं किन्तु हजारों छात्रों ने सामाजिक संस्थाओं में अभ्यास करके परीक्षा देकर अपनी योग्यता के प्रमाण-पत्र एवं पारितोषिक प्राप्त किये हैं व कर रहे हैं । इस वर्ष-व्यावर के मण्डल के अधिवेशन ने एक प्रस्ताव करके श्रीमजवाहिराचार्य स्मारक फण्ड कायम किया है और उसमें से श्रीमान्-स्वर्गीय आचार्य महाराज के प्रवचनों का अच्छे आकर्षक सुन्दर ढंग से साहित्य रूप में साहित्य सम्पादन कराके जनता के हाथ में पहुंचाने का ठहराया है । इस प्रकार मण्डल द्वारा हमारी साधुमार्गी जैन समाज ही नहीं, पूर्ण

जैन समाज व जैनैतर समाज ने महान् लाभ हासिल किया है ऐसी संस्था को आर्थिक सहायता देकर सुदृढ़ बनाना व कार्य कर्त्ताओं के उत्साह को बढ़ाना हमारा नैतिक कर्त्तव्य हो जाता है ।

मण्डल को सुदृढ़ कैसे बनाया जा सकता है ?



(१) श्री साधुमार्गी जैन समाज में पूज्य श्री हुक्मीचन्दजी महाराज की सम्प्रदाय के अनुयायी तथा इस सम्प्रदाय के वर्तमान जेनाचार्य पूज्य श्री गणेशलालजी म०सा० व इनकी सम्प्रदाय के प्रति भक्ति-पूर्वक प्रेम सहानुभूति रखने वाला अन्य सम्प्रदाय का अनुयायी भी मण्डल का सम्य बन सकता है । मण्डल के सम्य बनने की तीन श्रेणियाँ रखी हुई हैं । प्रथम श्रेणी—वंशपरम्परा के सम्य, द्वितीय श्रेणी—आजीवन सम्य और तृतीय श्रेणी—वार्षिक सम्य । जिसका विवरण जो प्रथम भाग में आर्द्धित है । मण्डल के नियम ४ में देखिये ।

(२) मण्डल की चालू प्रवृत्तियों में सहकार देकर आर्थिक सहायता दी जाय तथा अंग सेवा दी जा कर उनको वेग दिया जाय ।

(३) मण्डल से सम्पादित साहित्य का प्रचार किया जाय । उस के प्रकाशन में आर्थिक सहायता देकर जो साहित्य स्टॉक में नहीं है उसका पुनः संस्करण निकाल कर प्रचार किया जाय ।

(४) मण्डल के नियमोपनियम से परिचित होकर उसा के सम्य बनाना व इसकी प्रवृत्तियों को सहकार दिलाना ।

यह बात तो निश्चित है कि कामधेनु अमृतमय दूध आदि देकर हमारा पोषण करती है, हमें सुख देती है परन्तु वह भी खुराक मांगती है । यदि हम उसे उचित खुराक नहीं दें तो वह हमारा पोषण कहाँ तक करेगी । इसी तरह मण्डल को भी आपके आर्थिक एवं अंग सेवा रुपी सहकार की आवश्यकता है । यदि आप पूर्ति करते रहेंगे तो उसके मिष्ट फल आपको प्राप्त होते रहेंगे । मैंने अपनी पत्नि एवं पुत्रों को भी मण्डल के सम्य बनाये हैं तथा अन्य प्रकार से भी शक्य सहकार देता हूँ । इसी प्रकार आप सब वाचकों से मण्डल के सम्य बनने तथा बनाने के लिए मैं आप से अपील करता हूँ ।

इत्यलम् ।

सवदीय

वाराचन्द गेलड़ा, मद्रास



आवश्यक निवेदन—



जिन महापुरुषों ने सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र की पूर्णता प्राप्त करके राग-द्वेष तथा मोह आदि आन्तरिक विकारों को पूर्ण रूप से जीत लिया है, उन महात्माओं के प्रवचन ही संसार का वास्तविक कल्याण करने में समर्थ होते हैं। परन्तु उन गहन प्रवचनों को समझना सर्व साधारण के लिए सहज नहीं है। प्रवचनों की सुगम व्याख्या करके, उनमें से विशेष उपयोगी और सारभूत तत्त्वों का पृथक्करण करके उन्हें समझाना विशिष्ट विद्वता के साथ कपायों की मंदता की भी अपेक्षा रखता है। जिन महापुरुषों को यह दोनों गुण प्राप्त हैं, वही वास्तव में प्रवचनों के सच्चे व्याख्याकार हो सकते हैं।

स्थानकवासी (साधुमार्गी) जैन समाज के सुप्रसिद्ध आचार्य, पूज्यवर्य श्री जवाहरलालजी महाराज ऐसे ही एक सफल व्याख्याकार थे। पूज्यश्री ने सूत्रकृतांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, उपासकदशांग तथा उत्तराध्ययन आदि कई सूत्रों पर विस्तृत व्याख्या की है, जिसमें से कुछेक व्याख्यान ही पिछले तेरह वर्ष में मण्डल की ओर से लिपिवद्ध हो सके हैं।

मण्डल द्वारा लिपिवद्ध कराए हुए व्याख्यानों में से श्री उपासकदशांग सूत्र की व्याख्या का सम्पादन परिणत

शान्तिलालजी वनमाली शेट कर रहे थे। श्रीमद्भगवती सूत्र की व्याख्या सं० १९८८ के देहली चातुर्मास से आरम्भ हुई और सं० १९९२ के रतलाम चातुर्मास तक की गई थी। इन अनेक चातुर्मासों में प्रथम शतक की तथा द्वितीय शतक के कुछ ही उद्देशकों की ही व्याख्या हो पाई है। पूज्य श्री को अगर सम्पूर्ण व्याख्या भगवती सूत्र पर करने का अदकाश मिला होता तो हमारे लिए कितने सद्भाग्य की बात होती। पर ऐसा न हो सका।

श्रीभगवती सूत्र की इस व्याख्या को जनता के लिए उपयोगी एवं मार्गदर्शक समझ कर मैं ने इसे मासिक रूप में प्रकाशित करने की आज्ञा मण्डल के मोरवी-आधिवेशन में प्राप्त की थी। किन्तु ग्राहकों की संख्या पर्याप्त न होने तथा अन्य अनेक कठिनाइयों के कारण वह विचार उस समय कार्यान्वित न हो सका। दो वर्ष पहले श्रीमान् सेठ इन्द्रचन्द्रजी गेलड़ा की तरफ से श्रीमान् सेठ ताराचन्द्रजी सा० गेलड़ा ने मण्डल से प्रस्तुत व्याख्या को उत्तम शैली से सम्पादित करवा कर प्रकाशित करने की प्रेरणा की और साथ ही आर्थिक सहायता भी देने की तत्परता दिखलाई। श्री गेलड़ाजी की इस पवित्र प्रेरणा से प्रेरित होकर मण्डल ने पं० श्री शोभाचन्द्रजी भारिष्ठ, न्यायतीर्थ द्वारा, जो उच्च कोटि के लेखक और विद्वान् हैं, यह व्याख्या उत्तम शैली से सुन्दर और, रोचक भाषा में सम्पादन करवाई है। उसे पाठकों के कर-कमलों में पहुंचाते हुए हमें अत्यन्त प्रसन्नता है। हमारा यह प्रकाशन फिलहाल प्रथम शतक तक ही परिमित रहेगा।

प्रस्तुत सूत्र के प्रथम शतक की व्याख्या ही इतनी

विस्तृत हो गई है कि फाउन १६ पेजी साइज के करीब डेढ़ हजार से भी अधिक पृष्ठों में इसकी समाप्ति होगी। यह व्याख्या चार भागों में प्रकाशित करने का विचार किया गया है, किन्तु चार भागों में समाप्त न होगी तो पांच करने पड़ेंगे। इन में से प्रथम भाग तो आप की सेवा में करीब छः माह पूर्व प्रेषित कर चुके हैं। यह द्वितीय भाग भी उपस्थित करते हैं। यह व्याख्यान सार संग्रह-पुस्तक साजा का २०वां पुष्प है-इस में चलमाणे चलिण के प्रथम सूत्र (प्रश्न) से प्रारम्भ करके प्रथम शतक के द्वितीय उद्देशक तक समाप्त किया गया है। इस से यह पुस्तक करीब सवा चार सौ पृष्ठ की हुई है जो प्रथम भाग से कद में डेढ़ी है तथा टाइटल का कागज भी वैसा ही जाड़ा है इससे इसकी कीमत रु० १) के बदले रु० १॥) रखनी पड़ी है। जो पुस्तक को देखते हुए यह कीमत ज्यादा नहीं है।

श्रीभगवत्सूत्र में प्रथम शतक का वर्णन विशेषतः सूक्ष्म एवं गहन है। उसे समझने और समझाने में विद्वानों को भी कठिनाई होती है। ऐसे गहन भावों को सरलतर कर के पूज्य श्री ने जैनसमाज का अकथनीय उपकार किया है। आचार्य श्री की तत्त्व को स्फुट करती हुई किन्तु गम्भीर, सरस और रोचक व्याख्या से साधारण बुद्धि वाला भी लाभ उठा सकता है। इससे तथा श्रीमान् सेठ इन्द्रचन्द्रजी गेलड़ा की उदारता एवं सेठ ताराचन्द्रजी सा० की प्रेरणा से प्रेरित होकर यह विशाल आयोजन करने का साहस किया है।

जिस समय इस कार्य को प्रारम्भ करने का विचार किया गया, उस समय महायुद्ध की ज्वाला प्रचण्ड हो रही थी। कागज आदि प्रकाशन के सभी साधनों में वेहद मँहगाई थी। यहाँ तक कि कागज का मिलना भी कठिन

था । इन कारणों से प्रस्तुत ग्रन्थ पर खर्च अधिक हुआ है । किन्तु उक्त सेठ साहब ने सम्पादन व्यय के अतिरिक्त प्रकाशन में भी आर्थिक सहायता दे कर इसे आधे मूल्य में वितरण करवाने की उदारता प्रदर्शित की है । निस्सन्देह श्री गेलुडार्जी की सहायता से ही हम इस आयोजन में इतनी सरलता से सफल हो सके हैं । अतएव हम गेलुडा वंधुओं को अन्तःकरण से धन्यवाद देते हैं ।

हमारी यह भी हार्दिक इच्छा थी कि ऐसे उदारचित्त सज्जन का परिचय देने के लिए उनका फोटो पुस्तक में दिया जाय । परन्तु प्रयत्न करने पर भी सेठ साहब ने अपना फोटो या प्लाक भेजने से इन्कार कर दिया है । निष्काम सेवा इसी का नाम है स्वल्प दे कर अपना विज्ञापन कराने वालों के लिए सेठ साहब की भावना बोध पाठ देती है ।

अन्त में वह प्रकट कर देना भी आवश्यक है कि पूज्य श्री के व्याख्यान तो साधुओं की मर्यादायुक्त भाषा में ही होते थे । प्रस्तुत ग्रन्थ के सम्पादन और प्रकाशन में कहीं किसी प्रकार का विपर्यास हुआ हो, प्रतिपादन में कोई न्यूनता या अधिकता हुई हो तो उसके लिए सम्पादक और प्रकाशक ही उत्तरदाता हो सकते हैं । सौजन्यपूर्वक जो सज्जन किसी त्रुटि की ओर ध्यान आकर्षित करेंगे, हम उनके आभारी होंगे और अगले संस्करण में यथोचित संशोधन करने का ध्यान रखेंगे । इतिशम ।

बालचन्द्र श्री श्रीमाल सेक्रेटरी

हिरालाल नादिचा

प्रकाशक-

प्रेसिडेन्ट-

आपने भी आपही के समान उदार दानी एवं दयालु निकले । आपने भी अल्प काल ही में हमें हमारे कामों का दान दिया । आपने पूज्य पिताश्री के दान (५५००००॥ रु० श्री ध्व० स्था० जन एज्युकेशनल सोसाइटी को देकर मद्रास में एक हाई स्कूल की स्थापना कन्या तथा इसके अतिरिक्त स्कूल एवं बोर्डिंग हाउस, हाई स्कूल एवं बोर्डिंग हाउस के भवन-निर्माण में भी हमें हमारे कामों का दान दिया । आपही की कृपा का फल है कि कुचेरा (मागवाड) में एक डिस्पेंसरी आपवालय चल रहा है, जहाँ रोगियों की निःशुल्क चिकित्सा की जाती है । आपने अपने पिता श्री की स्मृति में एक बहुत बड़ा फण्ड निकला है जिसमें से हमें भी इस ग्रन्थ के प्रकाशन तथा प्रकाशनार्थ रुपये दो हजार की सहायता प्राप्त हुई तथा आवश्यकता पड़ने पर अधिक सहायता प्राप्त होने की आशा है । हम इसके लिये मेठ साहब को कोटिशः धन्यवाद देते हैं और आशा करते हैं कि भविष्य में भी आपके द्वारा समाज के कई आवश्यक अङ्गों की कमी की पूर्ति होगी । ईश्वर आपको उत्तरोत्तर समुन्नत यशस्वी एवं ऐश्वर्य सम्पन्न बनाये हमारी यही शुभ कामना है ।

श्रीमद्भगवत्सूत्रम् (पञ्चमाङ्कम्)

द्वितीय भागः

प्रथम शतकः—प्रथम उद्देशक

प्रश्नोत्तर

—★—

मूल—से एणं भंते ! चलमाणे चलिण ?
उदीरिज्जमाणे उदीरिण ? वेइज्जमाणे वेइण ?
पहिज्जमाणे पहीणे ? छिज्जमाणे छिन्ने ? भि-
ज्जमाणे भिन्ने ? डज्जमाणे डड्ढे ? मिज्जमाणे
मडे ? निज्जारिज्जमाणे निज्जिणणे ? (३)

संस्कृत-छाया—तदनूनं भगवन् ! चलत् चलितम् ? उदीर्यमाणं
उदीरितम् ? वेद्यमानं वेदितम् ? प्रहीयमाणं प्रहीणम् ? छिद्यमानं
छिद्यम् ? सिद्यमानं सिद्धम् ? दह्यमानं दग्धम् ? भ्रियमाणं भृतम् ?
निर्णीयमाणं निर्णीयम् ? (३)

मूलार्थ—हे भगवन् ! जो चल रहा हो वह चला, जो उदीरा जा रहा हो वह उदीरा गया, जो वेदा जा रहा हो वह वेदा गया, जो नष्ट हो रहा हो वह नष्ट हुआ, जो छिद रहा है वह छिदा, जो भिद रहा है वह भिदा, जो जल रहा है वह जला, जो मर रहा है वह मरा, जो खिर रहा है वह खिरा ? इस प्रकार कहा जा सकता है ? (३)

व्याख्या—गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से उक्त नौ प्रश्न किये । यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि गौतम स्वामी ने इन प्रश्नों में पहले 'चलमाणे चलिण' ? प्रश्न ही क्यों किया ? दूसरा प्रश्न पहले क्यों नहीं किया इस प्रश्न का समाधान यह है ।

पुरुषार्थ चार हैं । उनमें मोक्ष पुरुषार्थ मुख्य हैं । जितने भी पुरुषार्थ हैं, वह सब मोक्ष के लिए ही होने चाहिए । और कोई काम ऐसे पुरुषार्थ का नहीं है, जैसे पुरुषार्थ का काम मोक्ष प्राप्त करने का है । अतएव सब प्राणियों को उचित है कि वे दूसरे काम छोड़ कर मोक्ष-प्राप्ति के काम में लगें ।

इस प्रकार मोक्ष प्राप्त करना सब कामों में श्रेष्ठ है । मोक्ष-प्राप्ति एक कार्य है तो उसका कारण भी अवश्य होना चाहिए, क्योंकि बिना कारण के कार्य नहीं हो सकता । बिना कारण के कार्य का होना मान लेने से बड़ी गड़बड़ी मच जायगी । अतएव प्राकृतिक नियम के अनुसार यही मानना उचित है कि कारण के होने पर ही कार्य होता है । इस नियम से जब मोक्ष साध्य है तो उसका साधन भी अवश्य होना चाहिए ।

मान लीजिए कोई महिला रोटी बनाना चाहती है। रोटी बनाना साध्य है तो उसके लिए साधनों का होना अनिवार्य आवश्यक है। चकला, बेलन, आटा, अग्नि आदि रोटी बनाने के साधनों को सामग्री कहते हैं। यह साधन सामग्री होगी तभी रोटी बनेगी। इसी प्रकार प्रत्येक कार्य में साधन की आवश्यकता है। जैसा मनुष्य का साध्य होगा, वैसा ही उसे पुरुषार्थ भी करना पड़ता है। उसके अनुकूल ही साधन करने पड़ते हैं।

मोक्ष रूप साध्य के लिए सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र रूप साधनों की आवश्यकता है। जैसे आटा, अग्नि, आदि सामग्री के बिना रोटी नहीं बन सकती, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन आदि सामग्री के बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। इससे यह साबित होता है कि मोक्ष रूप साध्य के साधन सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक्-चारित्र हैं।

साध्य के अनुकूल साधन और साधन के अनुसार साध्य होता है। अन्य जाति का कारण अन्यजातीय कार्य को उत्पन्न नहीं कर सकता। अगर किसी को खीर बनानी है तो उसे दूध, शकर और चावल का उपयोग करना होगा। इसके बदले अगर कोई नमक-मिर्च इकट्ठा करने बैठ जाय तो खीर नहीं बनेगी। तात्पर्य यह है कि साध्य के अनुकूल ही साधन जुटाने चाहिए।

साध्य के अनुसार साधन जुटाने के लिए ज्ञान की आवश्यकता है। खीर बनाने वाले को जानना चाहिए कि खीर के लिए दूध, शकर आदि की आवश्यकता है और

शाक बनाने वाले को जानना चाहिए कि उसके लिए नमक-मिर्च का उपयोग किया जाता है। ऐसा ज्ञान न होने से न खीर ही ठीक बन सकती है और न तरकारी ही। तात्पर्य यह है कि कार्य करने के लिए कर्त्ता को कारणों का यथावत् ज्ञान होना चाहिए। यथावत् ज्ञान के अभाव में कार्य यथावत् नहीं हो सकता।

यहाँ मोक्ष साध्य है और सम्यग्ज्ञान आदि उसके साधन हैं। साध्य और साधन के व्यभिचार को हटाकर, जो इनका जोड़ मिलाने की शिक्षा दे, वह शास्त्र कहलाता है। अच्छे पुरुष इस बात की शिक्षा चाहते हैं कि साध्य (मोक्ष) और साधन (सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्-चारित्र) समान मिल जावें। इनमें व्यभिचार न हो। इसलिए अच्छे पुरुष शास्त्रश्रवण की इच्छा रखते हैं।

भगवती-सूत्र शास्त्र है। इस शास्त्र में कार्य-कारण का व्यभिचार न होने देने की शिक्षा दी गई है। साध्य और साधन में व्यभिचार न आने देने के लिए साध्य और साधन दोनों पर विचार करने की आवश्यकता है। अगर साध्य को भूलकर दूसरे ही कार्य के लिए साधन जुटाते रहे अथवा साधन को भूलकर साध्य दूसरे को ही मानते रहे तो कैसे कार्य होगा? साध्य है खीर और बना डाली तरकारी। यहाँ साध्य का ज्ञान न होने से दूसरे ही कार्य के साधन जुटाये और उन साधनों से खीर की जगह तरकारी बन गई। भले ही तरकारी अच्छी बनी, मगर साध्य वह नहीं थी। साध्य तो खीर थी, जो बनी नहीं। इसी प्रकार साध्य बनाया जाय मोक्ष और साधन जुटाए जायें संसार के, तो मोक्ष कैसे

मिलेगा ? कारण कार्य में व्याभिचार नहीं होना चाहिए । दोनों एक हो जावें । इस बात की शिक्षा देने वाला शास्त्र कहलाता है ।

यहाँ कहा गया है कि ज्ञान, दर्शन और चारित्र साधन हैं और मोक्ष साध्य है । इन साधनों के द्वारा मोक्ष को साधा जाय तो कोई गड़बड़ न होगी ।

हमारे आत्मा की शक्तियाँ बन्धन में हैं । उन शक्तियों पर आवरण पड़ा है । उस आवरण को हटाकर आत्मा की शक्तियों को प्रकट कर लेना ही मोक्ष है । आत्मा में सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्-चारित्र की शक्ति स्वभावतः विद्यमान है, लेकिन वह दब रही है । रत्नत्रय की इस शक्ति में आत्मा की अन्य सब शक्तियों का समावेश हो जाता है ज्यों-ज्यों इस शक्ति का विकास होता है, मोक्ष समीप से समीपतर होता चला जाता है ।

तात्पर्य यह है कि जो ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना करेगा वह मोक्ष की आराधना करेगा और जो मोक्ष की आराधना करेगा वह इन साधनों को अपनावेगा । जैसे खीर को दूध, चावल और शक्कर कहो या दूध, चावल, शक्कर को खीर कहो; एक ही बात है । इसी प्रकार सम्यक्-ज्ञान-दर्शन-चारित्र की आराधना कहो या मोक्ष की आराधना कहो, दोनों एक ही बात है ।

सम्यक् ज्ञान-दर्शन-चारित्र मोक्ष के ही साधन हैं । यह साधन मोक्ष को ही सिद्ध करेंगे, और किसी कार्य को सिद्ध नहीं करेंगे । मोक्ष को साधने वाला इन तीनों कारणों को साधेगा और इन्हीं कारणों से मोक्ष सधेगा ।

मोक्ष को वही जान सकता है जो इन शक्तियों के बन्धन को जानेगा। जो बन्धन को न जानेगा वह मोक्ष को क्या समझेगा ! जो कैद या परतंत्रता को जानेगा वही स्वतंत्रता चाहेगा। आज जो भारतीय परतंत्रता को जानते हैं वही स्वतंत्रता को चाहते हैं। जिन्हें परतंत्रता का ही ज्ञान नहीं है, वे स्वतंत्रता को नहीं समझ सकते। इसी प्रकार जो बन्धन को समझेगा, वहीं मोक्ष को भी समझेगा।

वस्तु दो प्रकार से जानी जाती है-स्वपक्ष से और विपक्ष से। वस्तु के स्वरूप का ज्ञान होता स्वपक्ष से जानना है और उसके प्रतिपक्षी-विरोधी वस्तु को जानकर और फिर उससे व्यावृत्त करके मूल वस्तु को जानना विपक्ष से जानना है। इसे विधिमुख से और निषेधमुख से जानना भी कहा जा सकता है। प्रकाश को जानने के लिए अन्धकार को जान लेना भी आवश्यक होता है। इसी प्रकार धर्म को जानने के लिए अधर्म को और अधर्म को जानने के लिए धर्म को जान लेना आवश्यक है। मोक्ष का प्रतिपक्ष बन्धन है। बन्धन है, इसी से मोक्ष भी है। बन्धन न होता तो मोक्ष भी न होता। मोक्ष को जानने के लिए बन्धन को जानना पड़ता है।

आत्मा के साथ कर्मों का एकमेक हो जाना बन्ध है। जैसे दूध और पानी आपस में मिलकर एकमेक हो जाते हैं, उसी प्रकार कर्मप्रदेशों का आत्मप्रदेशों के साथ एकमेक हो जाना बन्धन है। और इस कर्मबन्ध का नाश हो जाना मोक्ष है। मोक्ष के लिए कर्मबन्धन काटना अनिवार्य है।

मूल बात यह है कि गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से जो ना प्रश्न किये हैं, उनमें पहले 'चलमाणे चलिण ?' प्रश्न

ही क्यों किया ? इस प्रश्न को हल करने से पूर्व हमें यह देखना चाहिए कि कर्म बंध का नाश क्रमशः होता है या एक साथ ?

प्रत्येक कार्य में क्रम देखा जाता है। एक सड़े-गले कपड़े को फाड़ने में भी पहले और पीछे के तार टूटने का क्रम है। कपड़े के तमाम तार एक साथ नहीं टूटते। इस प्रकार संसार में किसी भी कार्य को लीजिए, उसके सम्पन्न होने में क्रम अवश्य दिखलाई पड़ेगा। जो सूक्ष्म दृष्टि से कार्य के क्रम को समझ लेगा वह गड़बड़ में नहीं पड़ेगा। जो मनुष्य बारीक नज़र से किसी कार्य के क्रम को नहीं समझेगा उसका गड़बड़ में पड़ जाना स्वाभाविक है।

जैसे अन्यान्य कार्य क्रम से होते हैं उसी प्रकार कर्मबंध का नाश भी क्रम से होता है। इसमें संदेह के लिए अवकाश नहीं होना चाहिए। अब देखना सिर्फ यही है कि कर्मबंध का नाश किस क्रम से होता है ?

गाँतम स्वामी ने भगवान् महावीर से 'चलमाणे चलिए' से लगाकर 'निज्जरिज्जमाणे निज्जरिए' तक जो नौ प्रश्न किये हैं, उनमें कर्मबंध के नाश का क्रम सन्निविष्ट है। यह क्रम 'चलमाणे चलिए' से आरंभ होता है और 'निज्जरिज्जमाणे निज्जरिए' तक रहता है। इस अंतिम क्रम के पश्चात् कर्मबंध नहीं रहता। कर्मबंध के नष्ट होने में पहला क्रम 'चलमाणे चलिए' ही है, इसी कारण यह प्रश्न सब से पहले उपस्थित किया गया है।

अब यह देखना चाहिए कि कर्मबंध के नाश का यह क्रम दिखाकर कौन-सी बात समझाई गई है, और इन पदों

उत्पन्न करने में जो काल लगता है, उसके तीन स्थूल विभाग किये जा सकते हैं—प्रथम प्रारंभकाल, दूसरा मध्यकाल और तीसरा अंतिमकाल । अगर कपड़े के प्रारंभकाल, में उसे उत्पन्न हुआ न माना जायगा तो मध्यकाल और अंतिमकाल में उत्पन्न हुआ क्यों माना जायगा ? तीनों काल समान हैं और तीनों कालों में वस्त्र उत्पन्न होता है—किसी एक काल में नहीं । जैसे प्रारंभकाल में कपड़ा बना, उसी प्रकार मध्यकाल में भी और उसी प्रकार अंतिमकाल में भी । फिर क्या कारण है जिससे प्रारंभ और मध्य के काल में कपड़े को उत्पन्न हुआ न मानकर अंतिम काल में ही उत्पन्न हुआ माना जाय ?

प्रारम्भकाल में, एक तार डालने पर कपड़े का एक अंश उत्पन्न हुआ है या नहीं ? अगर यह कहा जाय कि एक अंश भी उत्पन्न नहीं हुआ, तो इस का अर्थ यह हुआ कि इस प्रकार सारा समय समाप्त हो गया और वस्त्र उत्पन्न नहीं हुआ । क्योंकि जैसे प्रारम्भ काल में उत्पन्न कपड़े के अंश को अनुत्पन्न माना जाता है, उसी प्रकार मध्यकाल में भी अनुत्पन्न मानना होगा और अन्तिम काल में भी एक अंश ही उत्पन्न होता है, इसलिए उस समय में भी वस्त्र का उत्पन्न होना नहीं माना जा सकेगा । ऐसी स्थिति में वस्त्रोत्पादन की सम्पूर्ण क्रिया और सम्पूर्ण समय व्यर्थ हो जायगा । इस दोष से बचने के लिए यह मानना ही उचित है कि प्रारम्भकाल में भी अंशतः वस्त्र की उत्पत्ति हुई है ।

तात्पर्य यह है कि जैसे एक तार पड़ जाने से ही वस्त्र का उत्पन्न होना मानना युक्ति संगत है, उसी प्रकार कर्मों

की उदय-आवलिका असंख्यात समय वाली होने से, पहले समय में जो कर्म उदय-आवलिका में आने के लिए चले हैं, उन कर्मों की अपेक्षा उन्हें 'चला' कहा जाता है। अगर ऐसा न माना जायगा तो जो कर्म उदय-आवलिका में आने के लिये चले हैं, उन कर्मों की चलन-क्रिया वृथा हो जायगी। और यदि प्रथम समय में कर्मों का चलना नहीं माना जायगा तो फिर दूसरे, तीसरे आदि समयों में भी उनका चलना नहीं माना जा सकेगा। क्योंकि पहले समय में और पिछले समय में कोई अन्तर नहीं है। जैसे पहले समय में कुछ ही कर्म चलते हैं, सब नहीं, उसी प्रकार अन्तिम समय में भी कुछ ही कर्म चलते हैं—सब नहीं। (क्योंकि बहुत से कर्म पहले ही चल चुके हैं और जो थोड़े-से शेष रहे थे, वही अन्तिम समय में चलते हैं) इस प्रकार सब समय समान हैं। किसी में कोई विशेषता नहीं है। अतः प्रथम समय में अगर 'कर्म चले' ऐसा न माना जाय तो फिर किसी भी समय में उनका चलना न माना जा सकेगा। इसलिए जिस प्रकार अन्तिम क्रिया से 'कर्म चले' मानते हो, उसी प्रकार प्रथम क्रिया से भी 'कर्म चले' ऐसा मानना चाहिए।

यहाँ यह तर्क किया जा सकता है कि अगर एक तार डालने से वस्त्र उत्पन्न हो जाता है तो फिर दूसरे तार डालने की क्या आवश्यकता है? इसका उत्तर यह है कि अगर अन्तिम तार डालने से ही वस्त्र उत्पन्न हुआ, ऐसा माना जाय तो (अन्तिम तार को छोड़कर) पहले के तमाम तार डालने की क्या आवश्यकता है? उन तारों का डालना निष्फल क्यों न जाय? असल बात यह है कि एक तार डालना एक समय की क्रिया हुई और दूसरा तार डालना दूसरे समय की

क्रिया हुई। पहले समय में पहला तार डाला है और उससे अंशतः वस्त्र उत्पन्न हुआ है, मगर दूसरे समय में दूसरा तार डालना शेष है। लेकिन जो तार डाला है, उसकी क्रिया और समय निरर्थक तो नहीं गया? उस समय में उस क्रिया से वस्त्र उत्पन्न तो हुआ ही है।

कर्म की स्थिति परिमित है। चाहे वह अन्तर्मुहूर्त्त की हो या सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरोपम की हो, लेकिन है परिमित ही। परिमित स्थिति वाले कर्म अगर उदय में नहीं आवेंगे तो उनका परिमितपन मिट जायगा और सारी व्यवस्था भंग हो जायेगी। कर्मस्थिति की मर्यादा है और उस मर्यादा के अनुसार कर्म उदय-आवलिका में आते ही हैं। उदय-आवलिका में आने के लिए सभी कर्म एक साथ नहीं चलते हैं। प्रत्येक समय में उनका कुछ अंश ही चलता है। प्रथम समय में जो कर्मांश चला है, उसकी अपेक्षा कर्म को 'चला' न माना जायगा तो प्रथम समय की क्रिया और वह समय व्यर्थ होगा। अतएव चलमान कर्म को चलित मानना ही उचित है। इसके सिवाय जो कर्मदल प्रारम्भ में उदय आवलिका के लिए चला है, वह अन्त में फिर चलता नहीं है। अतएव इस समय यह कर्मांश चला है और इस समय यह कर्मांश चला है ऐसा मानने से ही कर्मों के चलने का क्रम रह सकता है। एक कर्मदल, दूसरे कर्मदल से स्वतंत्र होकर चलता है। अतएव प्रथम समय में जो कर्मदल चला है, उसके आधार पर 'चला' मानना युक्तिसंगत है।

यह पहला प्रश्न और उसके सम्बन्ध का समाधान हुआ। दूसरा प्रश्न यह है कि—

उदीरिज्जमाणे उदीरिए ?

अर्थात्—जो उदीरा जा रहा है वह उदीरणे हुआ ?

कर्म दो प्रकार से उदय में आते हैं। कोई कर्म अपनी स्थिति परिपक्व होने पर उदय में आता है और कोई कर्म उदीरणा से। किसी विशेष काल में उदय होने योग्य कर्म को, जीव अपने अध्यवसाय-विशेष से, स्थिति का परिपाक होने से पूर्व ही, उदयावलिका में खींच लाता है। इस प्रकार नियत समय से पहले ही प्रयत्न विशेष से किसी कर्म का उदय-आवलिका में आ जाना 'उदीरणा' है। कर्म की उदीरणा में भी असंख्यात समय लगते हैं। परन्तु पहले समय में उदीरणा होने लगी तो 'उदीरणे हुआ' कहना चाहिए। ऐसा न कहा जाय तो वही सब गड़बड़ी होगी, जिसका उल्लेख 'चलमाणे चलिए' के सम्बन्ध में किया जा चुका है।

कई लोग कहते हैं कि कर्म जिस रूप में बँधे हैं, उसी रूप में भोगने पड़ते हैं। दूसरी तरह से उनका नाश नहीं हो सकता। लेकिन, ऐसा मान लेने पर तप आदि क्रियाएँ व्यर्थ हो जाएँगी। जब तप करने पर भी कर्म उदय में आवेगा और तप न करने पर भी उदय में आवेगा, तो फिर तप करने से क्या लाभ है? अतएव यह कथन समीचीन नहीं है कि कर्म का नाश दूसरे प्रकार से नहीं हो सकता। स्थिति परिपक्व होने पर कर्म का उदय होना और हाय-हाय करके उन्हें भोगना यह तो अनादिकाल से चला आ रहा है। लेकिन कर्मों की उदीरणा करके उन्हें उदय-आवलिका में ले आने से फिर कर्म नहीं बँधते।

कुछ लोगों को यह भ्रम है कि-आत्मा और कर्म का संबंध अनादि काल का है। अनादिकालीन होने से वह अनंत काल तक रहना चाहिए। इस प्रकार कर्मों का नाश हो ही नहीं सकता। यह छिछोरो की बात है। शानी जनों ने इस विषय में सत्य वस्तु-तत्त्व प्रकट किया है। प्लानियों का कथन है कि कर्म और आत्मा का संबंध प्रवाह की अपेक्षा अनादि होने पर भी व्यक्ति की अपेक्षा सादि है। अर्थात् प्रत्येक कर्म किसी न किसी समय आत्मा में बँधता है, अतएव सभी कर्म सादि हैं, फिर भी कर्म-सामान्य की परम्परा सदैव चालू है, इस दृष्टि से वह अनादि हैं।

प्रवाह या परम्परा किसे कहते हैं? मान लीजिए, आप यमुना के किनारे खड़े होकर उसकी धारा देख रहे हैं। धारा देखकर आप साधारणतया यह समझते हैं कि वह एक सी है-इसमें वही पहलेवाला पानी है लेकिन वास्तव में ऐसी नहीं है। धारा का जल प्रतिक्षण आगे-आगे बढ़ता जाता है। एक मिनट पहले जो जल आपने देखा था, वह चला गया है और उसकी जगह दूसरा नया जल आ पहुँचा है। इस प्रकार पहले वाले जल का स्थान दूसरा जल ग्रहण करता चलता है। इसी कारण धारा टूटती नज़र नहीं आती और ऐसा जान पड़ता है मानों वही जल मौजूद है। लेकिन जैसे पानी ऊपर से और न आता हो तो धारा खंडित हो जायगी उसी प्रकार नये कर्म न आवे तो कर्मों की परम्परा भी विच्छिन्न हो जायगी, तात्पर्य यह है कि प्रतिक्षण अपूर्व-अपूर्व कर्म आते रहते हैं, और इस प्रकार का कर्म प्रवाह अनादिकाल से चल रहा है।

हाँ, तो कर्म, स्थिति पूर्ण होने पर भी उदय-आवलिका में आते हैं और उदीरणा से भी आते हैं। मान लीजिए आपको किसी का ऋण चुकाना है। आप दो तरह से ऋण चुका सकते हैं। एक तो आप नियत समय आने पर ही कर्ज अदा करें, दूसरे नियत समय से पहले ही अदा कर दें। नियत समय पर कर्ज चुकाने में कोई विशेषता नहीं हुई; मगर समय से पहले ही चुकाने में गौरव है और आनन्द है। इसी प्रकार कर्म, एक तो उदय की स्थिति पर भोगे जाते हैं और दूसरे स्थिति के पूर्व ही उदीरणा करके क्षय किये जाते हैं।

शास्त्रकारों का कथन है कि-समय पर कर्म भोगोगे, इसमें क्या विशेषता होगी ? समय से पहले ही, उदय-आवलिका में लाकर उनका क्षय क्यों नहीं कर देते ? कर्मों के नाश होने के इन दोनों तरीकों में पर्याप्त अन्तर है। जो कर्म करोड़ों भव करने पर भी नहीं छूटते, वे कर्म धर्माग्नि, ध्यानाग्नि और तप की अग्नि में एक क्षण भर में भस्म किये जा सकते हैं। उदाहरण के लिए प्रदेशी राजा को देखिए। उसने ऐसे घोर कर्म बाँधे थे कि एक एक नरक में अनेक-अनेक बार जाने पर भी सब कर्म पूरे न भोगे जावें। उसने निर्दयता से प्राणियों की हिंसा की थी। वह अपने मत की परीक्षा के लिए चोरों को कोठी में बंद कर देता था और कोठी को चारों ओर से ऐसी मूँद देता था कि कहीं हवा का प्रवेश न हो सके। वह मानता था कि जीव और काय एक है, अलग नहीं। इसी बात को देखने के लिए वह ऐसा करता था। अगर जीव और शरीर अलग-अलग होंगे तो चोर के मरने पर भी जीव दिखाई देगा। कोठी एकदम बंद है तो जीव निकलकर जायगा कहाँ ? कई दिनों बाद वह चोर को कोठी से बाहर निकालता। चोर

भरा हुआ मिलता । राजा प्रदेशी कहता-देखो, काय के अतिरिक्त आत्मा अलग नहीं है । यहां अकेला शरीर ही दिखाई दे रहा है ।

कभी-कभी प्रदेशी राजा किसी चोर को चीर डालता और उसके टुकड़े टुकड़े करके आत्मा को देखता था । जब आत्मा दिखाई न देता तो अपने मत का समर्थन हुआ समझता और कहता कि शरीर से अलग आत्मा नहीं है । तात्पर्य यह कि प्रदेशी राजा घोर हिंसक था और महान् पाप करता था ।

जो आत्मा अज्ञान अवस्था में घोर पाप करता है, ज्ञान होने पर वही किस प्रकार ऊँचा उठ जाता है, इसके लिए प्रदेशी का उदाहरण मौजूद है ।

धन धन केशी सामजी, सारया प्रदेशी ना काम जी ।

केशी श्रमण ने प्रदेशी राजा को समझाया, तब वह जीव और शरीर को अलग-अलग मानने लगा । पहले वही प्रदेशी, लोगों की आजीविका छीन लेता था और साधु सन्तों के प्राण लेने में संकोच नहीं करता था । चित नामक प्रधान ने केशी स्वामी से प्रार्थना की कि—‘महात्मन् ! आप सिताम्बिका नगरी में पदार्पण कीजिये । वहां अतीव उपकार हेने की संभावना है । वहां के लोग बड़े धर्मात्मा हैं । वे बहुत प्रेम से आपका उपदेश सुनेंगे । तब केशी श्रमण ने उत्तर दिया—हे चित ! एक सुन्दर वगीचा है । उसमें तरह-तरह के फल लगे हैं । अत्यन्त आनन्द दायक वह वगीचा है । बताओ, ऐसे उद्यान में पत्नी आना चाहेगा कि नहीं ?

चित — 'क्यों नहीं महाराज ! अवश्य आना चाहेगा ।

केशी श्र०—'लेकिन उस उद्यान में एक पारधी, घनुष चढ़ाकर पक्षियों को मार डालने के लिए उद्यत खड़ा है । ऐसी दशा में वहाँ कोई पक्षी जायगा' ?

चित—अपने प्राण गँवाने कौन जायगा ?

के. श्र.—इसी प्रकार सिताम्बिका नगरी ब्रह्मान की भाँति सुन्दर है, किन्तु वहाँ का राजा प्रदेशी हम साधुओं के लिए पारधी के समान है । वह साधुओं के प्राण लिए बिना नहीं मानता । वह अपने अज्ञान से साधुओं को अनर्थ—की जड़ समझता है । ऐसी दशा में, तुम्हीं बताओ, हमारा वहाँ जाना उचित होगा ?

चित—भगवन्, आपको राजा से क्या प्रयोजन ? उपदेश तो वहाँ की जनता सुनेगी ।

चित की बात सुनकर केशी श्रमण ने सोचा—आखिर चित वहाँ का प्रधान है । इसका आग्रह है तो जाने में क्या हानि है ? सम्भव है राजा भी सुधर जाय । परीपह और अपसर्ग आँगे तो हमारा लाभ ही होगा—कर्मों की विशेष निर्जरा होगी ।

इस प्रकार विचार कर केशी श्रमण ने सिताम्बिका जाने की स्वीकृति दे दी और वहाँ पधार भी गये । चित प्रधान बोड़े फिराने के वहाने प्रदेशी राजा को उनके पास ले आया । केशी श्रमण ने राजा को उपदेश दिया । उपदेश से प्रभावित हो राजा ने आचक के धारह व्रत धारण किये ।

जब राजा जाने लगा तो केशी स्वामी ने उसने कहा-
‘राजन्’ अब तुम रमणिक हुए हो; मगर हमारे चले जाने
पर फिर अरमणिक न बन जाना ।

राजा ने उत्तर दिया-‘नहीं महाराज ! मेरे नेत्र आपने
खोल दिये हैं । अब देखते हुए गड़ढे में नहीं निरूँगा । बल्कि
अपने राज्य के सात हजार ग्रामों के चार भाग आपके सामने
ही किये देता हूँ । एक हिस्सा राज्य-भण्डार के लिए, दूसरा
अन्तःपुर के लिए, तीसरा राज्य की रक्षा के लिए और चौथे
हिस्से से श्रमणों-माहणों के लिए एवं भिखारियों के लिए
देता हुआ तथा अपने ब्रतों का पालन करता हुआ विचरूँगा ।

मित्रो ! राजा प्रदेशी एक दित दूसरों के हाथ का ग्रास
छीन लेता था, अब छीनता नहीं वरन् देता है । क्या उसके
यह दोनों कार्य बराबर हैं ? अगर कोई जैनदर्शन के नाम पर
इन दोनों कार्यों को समान बतलाकर एकान्त पाप कहता है
तो उसे क्या कहना चाहिए ?

तात्पर्य यह है कि राजा प्रदेशी ने घोर पाप करके
कर्मों का बंध किया था । कथा में उल्लेख है कि उसने बेल-
बेल पारणा किया और शास्त्र में कहा है कि उसने समभाव
धारण किया । इस प्रकार प्रदेशी ने अपने इन कर्मों का
नाश कर दिया ।

राजा प्रदेशी ने इती सूरीकन्ता नार ।

इष्टकान्त वल्लभ धणी सरे, शास्तर में अधिकार ।

निज स्वारथ वश पापिणी सरे, मायों निज भर्तार ।

राजा प्रदेशी की सूरीकान्ता नाम की रानी थी। राजा को वह बहुत प्यारी थी। राजा ने जब केशी भ्रमण के वारह व्रत धारण कर लिए और वह धर्मात्मा बन गया, तब सूरीकान्ता ने सोचा—‘राजा, धर्म के ढोंग में पड़ा रहता है। विषय-भोग का आनन्द विगड़ गया है। इसे मरवा कर और कुँवर को राजसिंहासन पर बिठलाकर राजमाता होने का नवीन सुख क्यों न भोगा जाय ?

इस प्रकार दुष्ट संकल्प करके रानी ने अपने पुत्र सूरीकान्त को बुलवाया। रानी ने उससे कहा—बेटा, तुम्हारा पिता ढोंगियों के चक्कर में पड़कर राज्य को मटियामेट किये देता है। थोड़े दिनों में ही सफाया हो जायगा, तब तुम क्या करोगे ? अतएव अपने भविष्य को देखो और अपना भला चाहते हो तो राजा को इस संसार से उठा दो। मैं तुम्हें राजा बनाऊँगी।

राजकुमार को अपनी माता के वचन ज़हर से लगे। उसने पिता को मारने से इन्कार कर दिया। मन ही मन सोचा तुम मेरे देव-गुरु के समान पिता को मार डालने को कहती हो ! तुम माता हो, तुमसे क्या कहूँ ? कोई दूसरा होता तो इस बात का ऐसा मज़ा चखाता कि वह भी याद रखता।

राजकुमार के चले जाने पर रानी ने सोचा—यह बहुत बुरा हुआ। मुँह से बात भी निकल गई और काम भी सिद्ध न हुआ। कहीं राजकुमार ने यह बात प्रकट करदी तो घोर अनर्थ होगा। मैं कहीं की नहीं रहूँगी। अतएव बात फूटने से पहले ही राजा को मार डालना श्रेयस्कार है।

ऐसा भीषण संकल्प करके रानी पौषधशाला में, जहाँ राजा मौजूद था, आई, उसने राजा के प्रति प्रेम प्रदर्शित करते हुए कहा—आप तो बस, यहीं के हो गये हैं ? किस अपराध के कारण मुझे भुला दिया है ? आपके लिए तो और रानियाँ भी हो सकती हैं, मगर मेरे लिए आपके सिवाय और कौन है ? अतएव आज कृपा करके मेरे ही महल में पधारिये और वहीं भोजन कीजिए ।

राजा ने सोचा—स्त्री-सुलभ पति भक्ति से प्रेरित होकर रानी उलाहना और निमंत्रण दे रही है । उसने रानी के महल में भोजन करना स्वीकार किया । रानी अपने महल में लौट आई । उसने राजा के लिए विषमिश्रित भोजन बनाया । जल में भी विष मिलाया और आसन आदि पर भी विष का छिड़काव किया । इस प्रकार विष ही विष फैलाकर रानी ने राजा को भोजन करने के लिए बैठाया और राजा के सम्मुख विषमिश्रित भोजन-पानी रख दिया । रानी पतिभक्ति का दिखावा करने के लिए खड़ी होकर पंखा झलने लगी । ज्यों ही राजा ने भोजन आरंभ किया, उसे मालूम हो गया कि भोजन में विष का मिश्रण किया गया है । वह चुपचाप उठकर पौषधशाला में आ गया ।

राजा किस प्रकार अपने कर्मों की उद्दीरणा करता है, यह ध्यान देने की बात है । इसे ध्यान से सुनिये और विचार कीजिए ।

पौषधशाला में आकर राजा विचारने लगा—रानी ने मुझे ज़हर नहीं दिया है । मैंने रानी के साथ जो विषयभोग किया है, यह ज़हर उसी के प्रताप से आया है ।

यद्यपि प्रदेशी राजा चढ़े हुए ज़हर को उतार सकता था और रानी को दंड भी दे सकता था, लेकिन जिन्हें कर्म की उद्दीरणा करनी होती है, वे दूसरे की बुराइयों का हिसाब नहीं लगाते ।

राजा प्रदेशी सोचने लगा—हे आत्मन् ! यह विष तुझे नहीं मिला है; किन्तु तेरे कर्म को मिला है। तू ने जो प्रगाढ़ कर्म बांधे हैं; उन्हें नष्ट करने के लिए इस ज़हर की जरूरत थी । मैंने जीव और शरीर को अलग-अलग समझ लिया है । यह स्पष्ट हो रहा है कि यह ज़हर आत्मा पर नहीं, शरीर पर अपना असर कर रहा है । आत्मा तो वह है कि—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः ।

नैनं क्लेदयन्त्यापो, न शोषयति मारुतः ॥

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।

नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥

अर्थात्—आत्मा को शस्त्र काट नहीं सकते, अग्नि जला नहीं सकती । आत्मा छिदने योग्य नहीं है, सड़ने-गलने योग्य नहीं है, सूखने योग्य नहीं है । वह नित्य है, प्रत्येक शरीर में रहता है, स्थायी है, अचल है और सनातन है ।

राजा प्रदेशी सोचता है—हे आत्मा ! यह विष तुझे मार नहीं सकता, यह तेरे कर्मों को ही काट रहा है । इस लिए चिन्ता न कर । तू बैठा बैठा तमाशा देख ।

मित्रों ! इसका नाम प्रशस्त परिणाम है । इसी से कर्मों की उद्दीरणा होती है । ऐसा परिणाम उदित होने पर

कर्मों की ऐसी दशा होती है, जैसे उन्हें ज़हर ही दे दिया गया हो ।

राजा ने फिर सोचा—प्रिये ! तू ने खूब किया । मेरे कर्मों को अच्छा ज़हर दिया । तू ने मेरी बड़ी सहायता की । ऐसा न करती तो मुझ में उत्तम भावना न आती । पतिव्रता के नियमों का पालन तू ने ही किया है ।

राजा ने प्रमार्जन, प्रतिलेखन तथा आलोचना—आदि करके अरिहंत-सिद्ध भगवान् की साक्षी से संथारा धारण कर लिया ।

उधर रानी के हृदय में अनेक संकल्प-विकल्प उठने लगे । उसने सोचा 'ऐसा न हो कि राजा जीवित रह जाए अगर ऐसा हुआ तो भारी विपदा में पड़ना पड़ेगा । अतएव इस नाटक की पूर्णहिति करना ही उचित है ।' इस प्रकार सोचकर वह राजा के पास दौड़ी आई और प्रेम दिखलाती हुई कहने लगी मैं ने सुना, आपको कुछ तकलीफ हो गई है ?

राजा ने, रानी से कुछ भी नहीं कहा । वह चुपचाप अपने आत्मचिन्तन में निमग्न रहा । संसार का असली स्वरूप उसके सामने नाचने लगा । तब रानी ने राजा का सिर अपनी गोद में ले लिया । और अपने सिर के लम्बे-लम्बे वालों से उसका सिर ढँक लिया । इस प्रकार तसल्ली करके और चारों ओर निगाह फेरकर उसने राजा का गला दबोच दिया ।

रानी ने जब अपने पति का राजा का गला दबाया तो वह सोचने लगा—रानी मेरा गला नहीं दबा रही है, मेरे शेष कर्मों का नाश कर रही है ।

राजा प्रदेशी ने इस प्रकार कर्मों की उद्दीरणा की। इस उद्दीरणा के प्रताप से, वह सूर्याभ विमान में देव हुआ। उद्दीरणा ने उसे नरक का अतिथि होने से बचा लिया और स्वर्ग-सुख का अधिकारी बनाया। राजा प्रदेशी ने अल्पकालीन समाधिभाव से ही अपना वेड़ा पार कर लिया। अगर वह दूसरे का हिसाब करने बैठता तो ऐसा न होता।

तात्पर्य यह है कि राजा प्रदेशी ने उद्दीरणा के प्रताप से न जाने कितने भवों का पाप क्षय करके आत्मा को हल्का बना लिया। इस प्रकार उद्दीरणा के द्वारा करोड़ों भवों में भोगने योग्य कर्म क्षण भर में ही नष्ट किये जा सकते हैं। दूसरा प्रश्न इसी उद्दीरणा के संबंध में है।

गौतम स्वामी ने तीसरा प्रश्न किया—

वेइज्जमाणे वेइए ?

अर्थात् जो वेदा जा रहा है वह वेदा गया ?

आत्मा को सुख-दुःख होना, यही कर्म वेदना है। जब कर्म की स्थिति पूर्ण हो जाती है तब वे उदय-आवलिका में आते हैं। मान लीजिए किसी ने तीस कोड़ा कोड़ी सागरापेम की स्थिति वाले कर्म बांधे। जब तक वह स्थिति-काल पूर्ण न हो जायगा, तब तक वह कर्म फल नहीं देंगे—सत्ता में विद्यमान रहेंगे। जब यह काल पूर्ण हो जायगा तब कर्म उदय-आवलिका में आवेंगे। उदय-आवलिका में आये हुए कर्मों के फल को भोगना निर्जरा कहलाता है, क्योंकि फल-भोग के पश्चात् कर्म खिर जाते हैं। जब तक कर्मों की निर्जरा नहीं होती तभी तक कर्म भोगने पड़ते हैं और जब

तक कर्म भोगने पड़ते हैं तभी तक वेदना है। जब तक कर्म उदय-आवलिका में नहीं आये थे तब तक वेदना नहीं थी और जब कर्म की निर्जरा हो जाती है तब भी उस कर्म की वेदना नहीं होगी। जब कर्म अपनी प्रकृति के अनुसार सुख या दुःख देंगे वह वेदना-काल कहलाएगा। अर्थात् कर्म के फल स्वरूप दुःख या सुख का अनुभव होना वेदना है।

कर्म-वेदना दो प्रकार से होती है—(१) स्थिति के क्षय से और (२) उदीरणा से। यद्यपि वेदना दोनों तरह से होती है तथापि जैसे समय पर कर्ज चुकाने में और समय से पहले ही महाजन को बुलाकर कर्ज चुकाने में अन्तर होता है, ऐसा ही अन्तर स्थिति के क्षय होने पर कर्म भोगने में और उदीरणा करके कर्म भोगने में है। यद्यपि दोनों अवस्थाओं में कर्ज चुकाना पड़ता है, लेकिन बुलाकर चुकाने में जिस प्रसन्नता से कर्ज चुकाया जाता है उस प्रसन्नता से समय पूरा होने पर तकाज़ा होने पर नहीं चुकाया जाता। यही बात दोनों प्रकार के कर्मभोग में भी है।

वेदना किस प्रकार भोगी जाती है, इत्यादि विचार बहुत लम्बा है और विस्तृत विवेचन की अपेक्षा रखता है। अतएव यहाँ उसका विचार नहीं किया जाता।

यद्यपि वेदना के समय असंख्यात हैं, लेकिन एक ही समय में जो वेदना होने लगी उसे 'वेदना हुई' ऐसा मानना चाहिए।

गौतम स्वामी का चौथा प्रश्न है:—

पाहिजमाणे पहीणे ?

अर्थात्—जो गिरता है—पतित होता है, वह गिरा, पतित हुआ, ऐसा मानना चाहिए ?

आत्मप्रदेशों के साथ जो कर्म एकमेक होगये हैं, उन्हें गिराना-हटाना 'प्रहाण' कहलाता है। आत्म-प्रदेशों से कर्म को गिराने में भी असंख्य समय लगते हैं। परन्तु पहले समय में जो कर्म गिर रहे हैं, उनके लिए 'गिरे' यह कहा जा सकता है ? पहले प्रश्न में जिन युक्तियों का उल्लेख किया गया है, वही युक्तियाँ प्रत्येक प्रश्न के संबंध में लागू होती हैं। उनका संबंध सब के साथ जोड़ लेना चाहिए।

गौतम स्वामी का पाँचवाँ प्रश्न है:-

छिज्जमाणे छिन्ने ?

अर्थात्—जो छेदा जा रहा है वह छिदा, ऐसा कहा जा सकता है ? 'छिज्जमाणे' का अर्थ है वर्तमान काल में जिसका छेदन किया जा रहा है। कर्म की दीर्घ काल की स्थिति को अल्पकाल की स्थिति में कर लेना, छेदन करना कहलाता है। यद्यपि कर्म वही है, लेकिन बसकी स्थिति को कम कर लेना 'छेदन' है। उदाहरणार्थ—एक मनुष्य बारह वर्ष के लिए जेल गया। लेकिन राजा के यहाँ पुत्र-जन्म होने से या कोई अच्छा काम करने से कैद की मियाद घटा भी दी जाती है। इसी प्रकार कर्म की स्थिति बहुत है, लेकिन अपवर्तना नामक कारण द्वारा कर्म की स्थिति को कम कर लेना उसका छेदन करना कहलाता है।

उपकरण, उपाय या साधन को करण कहते हैं। अनु-योगद्वारा सूत्र में करण के दो भेद बतलाए गये हैं। पहला भेद है उपकर्म अर्थात् वस्तु को ज्यादा बना लेना। दूसरा भेद वस्तुविनाश है यानी बहुत दिन टिकने वाली चीज़ को बिगाड़ देना या कम कर देना। तात्पर्य यह है कि जिस करण के द्वारा बहुत दिन टिकने वाली वस्तु बिगाड़ दी जाती है-कम कर दी जाती है, वह वस्तुविनाशकरण है और जिसके द्वारा वस्तु ज्यादा बनाई जाती है वह उपकर्म-करण कहलाता है।

करण के प्रकारान्तर से दो भेद हैं-(१) उद्वर्त्तनाकरण और (२) अपवर्त्तनाकरण। इनमें से अपवर्त्तनाकरण के द्वारा कर्म की स्थिति कम की जाती है। इस करण द्वारा स्थिति का कम हो जाना ही कर्म का छेदन करना कहलाता है।

अपवर्त्तना करण द्वारा होने वाली कर्म-छेदन की इस क्रिया में भी असंख्यात समय लगते हैं, मगर जो छीज रहे हैं उन्हें 'छीजे' कहना चाहिए। अर्थात् छिद्यमान को छिन्न कहना चाहिए।

गौतम स्वामी का छठा प्रश्न है:—

भिज्जमाणे भिरणे ?

अर्थात्—जो भेदा जा रहा है वह भेदा गया, ऐसा कहना चाहिए ?

शुभ कर्म को अशुभ रूप में और अशुभ को शुभ रूप में परिणत करना कर्म का भेदन करना कहलाता है। जैसे कच्चा आम स्वाद में खट्टा होता है, मगर उसे ठीक तरह रखकर पका लिया जाय तो मीठा हो जाता है। आम में यह मिठास कहीं बाहर से नहीं आती—यह आम का 'भिद्यमान' होना है। इसी आम को ज्यादा देर तक दबा रक्खा जाय तो वह सड़ जाता है। जैसे आम में नाना अवस्थाएँ उत्पन्न होती हैं, उसी प्रकार कर्म में भी अनेक अवस्थाएँ उत्पन्न और विनष्ट होती रहती हैं। मान लीजिए किसी जीव ने शुभ कर्मों का बंध किया, लेकिन बाद में ऐसा कुछ हो गया कि वे शुभ कर्म अशुभ हो गये। इसी प्रकार अशुभ कर्म, उपकरण द्वारा शुभ हो गये। ऐसा होना कर्म का भिद्यमान होना कहलाता है। तात्पर्य यह है कि बुरे का अच्छा हो जाना और अच्छे का बुरा हो जाना भेदन करना कहलाता है।

बँधे हुए कर्मों में तीन प्रकार से भेदन होता है—रसघात स्थिति-घात और प्रदेशघात। तीव्र रस को मंद रस, मंद रस को तीव्र रस रूप परिणत करना, अल्पकालीन स्थिति को दीर्घकालीन करना और दीर्घकालीन स्थिति को अल्पकालीन करना, बहुत प्रदेशों को अल्प प्रदेश रूप और अल्प प्रदेशों को बहुत प्रदेश रूप में परिणत करना, यह सब कर्मों का भिद्यमान होना है। यह भेदन रस, प्रदेश और स्थिति तीनों में होता है।

कर्म में यह परिवर्तन कैसे हो सकता है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जैसे राजा प्रदेशी का हुआ था और जंसे कुण्डरीक तथा पुण्डरीक का हुआ था। प्रदेशी का वृत्तान्त बतलाया जा चुका है। कुण्डरीक ने हजार वर्ष तक

तपस्या करके शुभ कर्म उत्पन्न किये थे। लेकिन तीन दिन के पाप से वे शुभ कर्म भिद्यमान हो कर अशुभ हो गये। मगर उसी के भाई पुण्डरीक ने हजार वर्ष तक राज्य करके जो अशुभ कर्म बाँधे थे, वे तीन दिन की तपस्या से शुभ कर्म के रूप में परिणत हो गये। करण की विशेषता, कर्म में इस प्रकार की विशेषता उत्पन्न कर देती है। यद्वा शुभ या अशुभ विशेषता उत्पन्न होना कर्म का भिद्यमान होना कहा जाता है। कर्मभेदन की इस क्रिया में असंख्यात समय लगते हैं, मगर प्रथम समय में जो भिद्यमान हो रहा है, उसे 'भेदा गया' कहना चाहिए।

गौतम स्वामी का सातवाँ प्रश्न है:—

उज्ज्ज्माणे उड्ढे ?

अर्थात्—जो जलता है वह जला, ऐसा कहना चाहिए ?

कर्म रूपी काष्ठ को ध्यान रूपां अग्नि से जलाकर उसका रूपान्तर कर देना-अकर्म रूप परिणत कर देना, दग्ध कर देना कहलाता है। जैसे लकड़ी अग्नि से जलकर राख रूप में परिणत हो जाती है, उसी प्रकार आत्मा के साथ जो कर्म परमाणु लगे हुए हैं और सुख-दुख देने वाले कर्म कहलाते हैं, उन्हें ध्यान रूपी प्रज्वलित अग्नि से फिर पुद्गल रूप बना देना, अर्थात् उन्हें अकर्म के रूप में पहुँचा देना दग्ध करना कहा जाता है।

ध्यान की अग्नि से भस्म किये हुए कर्म फिर भोगने नहीं पड़ते। ध्यान-अग्नि से भस्म हुए कर्म, कर्म ही नहीं रहते, अकर्म रूप पुद्गल बन जाते हैं।

ध्यान रूपी अग्नि से कर्म को अकर्म रूप परिणत करने में-दग्ध करने में अन्तर्मुहूर्त्त काल लगता है। इतने ही समय में ध्यान के परम प्रभाव से कर्म भस्म हो जाते हैं। मगर इस अन्तर्मुहूर्त्त काल में भी असंख्यात समय होते हैं। इन असंख्यात समयों में से पहले समय में जब कर्म दग्ध होने लगते हैं, तो उन्हें दग्ध हुए कहना चाहिए।

गौतम स्वामी का आठवाँ प्रश्न है:—

मिजमाणे मडे ?

अर्थात्—जो मर रहा है वह मरा, ऐसा कहना चाहिए ?

पूर्व बद्ध आयु कर्म से रहित होना मरना कहलाता है। मरने का अर्थ आत्मा का नाश हो जाना नहीं है। आत्मा आयु कर्म के साथ शरीर में रहकर चेष्टा करता है। जब आत्मा आयु कर्म से रहित हो जाता है, आयु कर्म के साथ नहीं रहता है तब चेष्टा बन्द हो जाती है और आत्मा मोक्ष प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार आयु के पुद्गलों का नाश हो जाना मरण है। यद्यपि आयु के पुद्गलों का नाश असंख्यात समय में होता है, फिर भी उनमें असंख्यात समयों में से प्रथम समय में भी 'मरा' कहा जा सकता है। शास्त्र का कथन है कि एक समय के जन्मे हुए बालक का भी आवीचि मरण हो रहा है। आवीचि मरण के द्वारा प्रत्येक प्राणी प्रति-समय मृत्यु को प्राप्त होता है। इस प्रकार यद्यपि मरने में असंख्यात समय लगते हैं, तथापि जो मरने लगा है, उसे मरा कहना चाहिए।

कल्पना कीजिए, गर्म पानी का एक हंडा चूल्हे पर से उतारकर नीचे रखवा है। वह गर्म पानी प्रतिक्षण ठंडा होता है, लेकिन छूने वाले को प्रथम क्षण में नहीं मालूम होता कि यह ठंडा हो रहा है। मगर प्रथम क्षण में उसका कुछ ठंडा होना निश्चित है। अगर प्रथम क्षण में वह जरा भी ठंडा न हो तो फिर कभी ठंडा न होगा-ज्यों का त्यों गर्म बना रहेगा। अतएव यह मानना चाहिए कि पानी एक-एक क्षण में ठंडा हो रहा है। भले ही प्रतिक्षण का ठंडा होना किसी को प्रत्यक्ष ज्ञात न हो मगर उसके ठंडे होने में शंका को अवकाश नहीं है।

ठीक यही बात मृत्यु के संबंध में है। जीव ने जितने आयुकर्म के दलिक बांधे हैं, उनमें से थोड़े-थोड़े प्रतिक्षण उदय में आकर क्षीण हो जाते हैं और आयुकर्म के दलिकों का क्षीण होना ही मृत्यु कहलता है। अगर यह कहा गया जिस समय समस्त आयुकर्म के दलिक क्षीण हो जाते हैं, उसी समय मृत्यु होती है, तो यह कथन ठीक नहीं; क्योंकि समस्त आयुकर्म के दलिक किसी भी समय क्षीण नहीं होते। अंतिम समय में वही आयु के दलिक क्षीण होते हैं जो पहले क्षीण होने से बच रहते हैं—समस्त नहीं। मतलब यह है कि अंतिम समय में भी जब समस्त दलिक क्षीण नहीं होते शेष रहे हुए कुछ दलिक ही क्षीण होते हैं और पहले भी कुछ दलिक क्षीण हैं तो क्या कारण है कि अंतिम समय में मृत्यु होना माना जाय और पहले (जीवित अवस्था में) न माना जाय? आयु कर्म का क्षीण होना ही मृत्यु है। अतएव प्रतिक्षण मृत्यु मानना ही युक्तिसंगत है। अगर प्रतिक्षण मरना न माना जायगा तो जीव कभी नहीं मरेगा।

गौतम स्वामी का नवमाँ प्रश्न है :—

निज्जरिज्जमाणे निज्जिए ?

अर्थात्-जो निर्जरता है वह निर्जीर्ण हुआ, ऐसा माना जाय ?

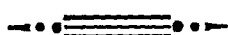
साधारण तया फल देने के पश्चात् कर्मों का आत्मा से अलग होना निर्जरा है किन्तु यहाँ निर्जरा का अर्थ मोक्ष-प्राप्ति रूप है। कर्म, फिर कभी कर्म रूप से उत्पन्न न हो, उसे निर्जरमान कहते हैं। मोक्ष प्राप्त करने वाले जो महापुरुष कर्म की निर्जरा करते हैं, उनके निर्जीर्ण कर्म, फिर कभी कर्म रूप से उन्हें उत्पन्न नहीं होते। उन्हें फिर कभी कर्मों को भोगना नहीं पड़ता। इस प्रकार कर्मों का आत्यन्तिक क्षीण होना यहाँ निर्जरा कही गयी है।

निर्जरा भी असंख्यात समयों में होती है। मगर जब कर्म निर्जीर्ण होने लगा, तभी-पहले समय में ही निर्जीर्ण हुआ, ऐसा कहना चाहिए।

यहाँ पर भी पहले के समान ही शंका की जा सकती है, और उसका उत्तर भी पहले के ही समान दिया जा सकता है। पहले ब्रह्म का दृष्टान्त देकर यह स्पष्ट कर दिया गया है कि असंख्यात समय में होने वाली क्रिया को प्रथम समय में भी 'हुई' ऐसा कहा जा सकता है।



भगवान् का उत्तर—



श्री गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर स्वामी के समक्ष यह नौ प्रश्न किये । इन प्रश्नों के उत्तर में भगवान् ने फरमाया—

**मूल—हंता गोयमा ! चलमाणे चलिए,
जाव निज्जरिज्जमाणे निज्जिणणे ।**

संस्कृत-छाया-हन्त गोतम ! चलन चलितः यावन्निर्जोर्यमाणो निर्जीणः ।

मूलार्थ—हाँ गौतम ! जो चलता है 'वह चला' से लेकर जो निर्जर रहा है वह निर्जरा; (ऐसा कहना चाहिए ।)

व्याख्या—भगवान् महावीर के सामने गौतम स्वामी ने यह प्रश्न किये हैं । इनके संबंध में एक तर्क किया जा सकता है । वह यह है—गौतम स्वामी के विषय में यह प्रसिद्ध है कि वे द्वादशांगी के प्रणेता हैं । भगवती सूत्र भी इसी द्वादशांगी के अन्तर्गत है और इसकी आदि में गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं । यह कैसे संभव है ? इसके अतिरिक्त प्रत्येक समझने और समझाने योग्य विषय को गौतम स्वामी सम्यक् प्रकार

सकता है। कदाचित् गौतम स्वामी इन प्रश्नों का उत्तर जानते भी हों, तब भी प्रश्न करना संभव है। आप पूछ सकते हैं कि जानी हुई बात पूछने की क्या आवश्यकता है? इसका उत्तर होगा-उस बात पर अधिक प्रकाश डालवाने के लिए-अपना बोध बढ़ाने के लिए। अथवा जिन लोगों को प्रश्न पूछते नहीं आता, या जिन्हें इस विषय में विपरीत धारणा हो रही है, उनके लाभ के लिए, उन्हें बोध कराने के लिए। गौतम स्वामी ने यह प्रश्न पूछे हैं। भले ही गौतम स्वामी उन्हें स्वयं समझाने में समर्थ होंगे, तथापि भगवान् के मुखारविन्द से निकलने वाला प्रत्येक शब्द विशेष प्रभावशाली और प्रामाणिक होता है, इस विचार से उन्होंने भगवान् के द्वारा ही इन प्रश्नों का उत्तर प्रकट करवाया है।

केशी स्वामी को स्वयं कोई संदेह नहीं था, लेकिन शिष्यों का सन्देह हरण करने के लिए गौतम स्वामी से उन्होंने प्रश्न किये थे। उन प्रश्नों का रूप भी ऐसा है, मानो उन्हें स्वयं ही संदेह हो और स्वयं ही प्रश्न करते हों।

साहु गोयम पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इसो ॥

अनोवि संसओ, मज्झं, तं मे कहसु गोयमा ॥

श्री उ० सूत्र २३ अ०

अर्थात्-हे गौतम ! आपने मेरा यह संशय तो दूर कर दिया, लेकिन एक और संशय कहता हूँ।

न्यायालय में, न्यायाधीश के समक्ष वकील यह नहीं कहता कि 'उसका यह दावा है', मगर वह कहता है-'मेरा

यह दावा है । ' गौतम स्वामी संसार के अज्ञ जीवों के वकील बने हैं । वे हम लोगों की ओर से भगवान् के समक्ष वकालत करते हैं । हम लोगों पर गौतम स्वामी का कैसा महान् उपकार है ! अगर उन्होंने यह वकालत न की होती तो आज हम लोगों को इन बातों का ज्ञान किस प्रकार होता ? आज गुणग्रहक कम होने से चाहे इन वचनों का उतना महत्व न समझा जाय, लेकिन सच्चा तत्त्व-जिज्ञासु इन वचनों को अमृत समझता है और इनका पान करके अपने को कृतार्थ समझता है । एक जगह किसी कवि ने कहा है—

ते न यहां नागर बड़े, जिन्हें चाह तब आव ।
फूल्यो अनफूल्यो रह्यो, गँवई गाँव- गुलाब ॥

आज श्रेणिक, कामदेव और आनन्द जैसे जिज्ञासु श्रोता नहीं रहे, इसी कारण इन वचनों का सम्मान कम है । यह लोग साधु तो क्या, श्रावक से भी इन वचनों को सुनकर आनन्द की हिलोरों में उतराने लगते थे । यह लोग गुलाब के पानी की चाह करने वाले नागरिकों के समान थे । जो गँवार हैं उन्हें गुलाब की कद्र का क्या पता ? वे उसे कटीला वृक्ष समझकर काट फेंकेंगे ।

तात्पर्य यह है कि गौतम स्वामी जानते हुए भी अन-जानों की वकालत करने के लिए, अपने ज्ञान में विशदता लाने के लिए, शिष्यों को ज्ञान देने के लिए और अपने वचन में प्रतीति उत्पन्न करने के लिए यह सब प्रश्न कर सकते हैं ।

अपने वचन में प्रतीति उत्पन्न करने का अर्थ यह है कि, मान लीजिए किसी महात्मा ने किसी जिज्ञासु को किसी प्रश्न

का उत्तर दिया। लेकिन उस जिज्ञासु को यह संदेह उत्पन्न हुआ कि इस विषय में भगवान् न मालूम क्या कहते? उसने जाकर भगवान् से वही प्रश्न पूछा। भगवान् ने वही उत्तर दिया। श्रोता को उन महात्मा के वचनों पर प्रतीति हुई। इस प्रकार अपने वचनों की, दूसरों को प्रतीति कराने के लिए भी स्वयं प्रश्न किया जा सकता है।

इसके सिवाय सूत्र-रचना का क्रम गुरु-शिष्य के संवाद में होता है। अगर शिष्य नहीं होता तो गुरु स्वयं शिष्य बनता है इस तरह सुधर्मा स्वामी इस प्रणाली के अनुसार भी गौतम स्वामी और भगवान् महावीर से प्रश्नोत्तर करा सकते हैं। यद्यपि निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि गौतम स्वामी ने उक्त कारणों में से किस कारण से प्रेरित होकर प्रश्न किये थे, तथापि यह निश्चित है इन प्रश्नों के संबंध में उक्त तर्क को स्थान नहीं है। तर्क निर्मूल है।

भगवान् ने उत्तर में जो 'हन्ता' शब्द कहा है, उसका अर्थ आमंत्रण या संबोधन करना है और 'हां' भी है।

प्रश्न—'हन्ता गोयमा!' इतना कहने से ही गौतम स्वामी के प्रश्नों का उत्तर हो जाता है। फिर भगवान् ने 'चलमाणे चलिण, जाव निज्जरिज्जमाणे णिज्जिणणे' इतने शब्द क्यों कहे हैं?

उत्तर—यद्यपि 'हन्ता गोयमा' अर्थात् हाँ गौतम ऐसा ही है, इतना कहने से काम चल जाता तथापि अपनी आज्ञा दोहराने के लिए भगवान् ने ऐसा फरमाया है। प्रश्न के शब्दों को दोहरा देने से चक्रीय स्पष्ट हो जाता है। शिष्यों के अनुग्रह के लिए इतनी स्पष्टता आवश्यक है।

प्रश्न—‘जाव’ शब्द कहने की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर—पाठ का संकोच करने के लिए ‘जाव’ शब्द कहा गया है। ‘चलमाणे चलिण’ कहकर यह प्रश्न का प्रथम पद ‘णिज्जरिज्जमाणे णिज्जिण्णे’ यह अंतिम पद कहा गया है और ‘जाव’ शब्द से बीच के सब पदों का ग्रहण हो जाता है।

इन पदों की व्याख्या समाप्त करते हुए आचार्य कहते हैं कि यह नौ पद कर्म के विषय में कहे गये हैं। कर्मों के ही संबंध में यहां विचार किया गया है। यहां मुख्य प्रश्न यह था कि वर्तमान के लिए भूतकाल का निर्देश करना क्या उचित है ? गौतम स्वामी ने इसी जिज्ञासा से यह प्रश्न किये थे। भगवान् ने उत्तर में कहा—हाँ गौतम ! यह ठीक है।

इस विषय में कुछ व्यावहारिक विवेचन की आवश्यकता है। संक्षेप में कुछ प्रकाश डाला जाता है—

यहाँ मोक्ष-प्राप्ति के नौ पद कहे हैं; मगर देखना चाहिए कि मोक्ष क्या चीज़ है ? मोक्ष को जानने के लिए बंधन को जानना आवश्यक है। मोक्ष का अर्थ है—बंधन से छूटना। जब तक बंधन को भली-भाँति न जान लिया जाय, तब तक मोक्ष को भली-भाँति नहीं जाना जा सकता।

लोग काम करने से पहले फल का विचार करते हैं। कार्य चाहे पूरा न हो मगर फल पहले ही मिल जाना चाहिए। अगर तत्काल फल न मिला तो उनकी निराशा का पार नहीं रहता। किन्तु ज्ञानीजनों का कथन यह है कि फल न दिखने से चबरानो मत। कार्य करना ही अपना कर्त्तव्य समझो, फल

की कामना न करो। जो कर्त्तव्य आरंभ किया है, उसी में जुटे रहो; फल आप ही दिखाई देने लगेगा। 'चलमाणं चलित्' का सिद्धान्त यही सिखलाता है कि मोक्ष गया नहीं है लेकिन जाने लगा कि गया ही समझो। इसलिए असंख्यात भवों में जिस मोक्ष को जाना है वह मोक्ष आज ही हुआ क्यों न कहा जाय ?

यह नौ प्रश्न विश्वासमय बनाते हैं। जिस मनुष्य के मन में निराशा छाई रहती है वह कोई भी काम दृढ़तापूर्वक नहीं कर सकता। उसका तन काम करता है, और मन विद्रोह करता है। तन और मन के संघर्ष में उसकी शक्तियाँ क्षीण हो जाती हैं और उसे सफलता भाग्य से ही मिल सकती है। इस निराशा को रोकने का सर्वश्रेष्ठ साधन यही है, कि फल की आशा ही न की जाय। 'न रहेगा वांस, न वजेगी वांसुरी' आशा ही न होगी तो निराशा कहाँ से आएगी ? आशा ही निराशा की जननी है। सफलता के लिए आशा-त्याग की अनिवार्य आवश्यकता है। इसी उद्देश्य से जैनशास्त्रों में निदान शल्य को त्याज्य कहा है और इसीलिए गीता में भी निष्काम कर्म का उपदेश दिया गया है।

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ।

अर्थात्—स्वल्प-सा धर्म होने पर भी अपना कल्याण हुआ समझ, घबरा मत उसी से तुम्हें निर्भयता प्राप्त होगी।

काल के हिस्से के हिस्से करने पर अन्त में 'समय' हाथ आता है। लकड़ी के दो, चार, आठ आदि टुकड़े करते-करते आखिर कभी न कभी यह होगा कि अब और टुकड़े

नहीं हो सकते । जिस टुकड़े के फिर टुकड़े नहीं हो सकते वह अंतिम टुकड़ा परमाणु कहलाता है । इसी प्रकार काल के जिस अंश के विभाग नहीं हो सकते, वह अंतिम विभाग 'समय' कहलाता है ।

प्रश्न हो सकता है कि स्वल्प धर्म होने पर ही कल्याण समझ लेने से 'बस हो गया' इस तरह की निराशा क्यों नहीं उत्पन्न होगी ? इसका उत्तर यह है कि जो व्यक्ति स्वल्प धर्म का भी महान् फल देखता है वह आगे के धर्म को कैसे भूलेगा ? कलकत्ता की ओर एक डग भरने वाले के संबंध में भी कहा जाता है कि 'वह कलकत्ता गया।' मगर ऐसा कहने से वह जाने वाला अगर कलकत्ता जाने से रुक जाय तो मूर्ख गिना जायगा । जब कलकत्ता की ओर एक पैर भरने से ही 'कलकत्ता गया' कहते हैं तो अधिक पैर भरने से क्या वह कलकत्ता से दूर होगा ? थोड़ा-सा लघोग सफल होता देखकर हिम्मत नहीं हारनी चाहिए । सोचना चाहिए कि यह थोड़ी-सी क्रिया भी निष्फल नहीं है तो अधिक क्रिया निष्फल कैसे हो सकती है ? तब आरंभ किये हुए कार्य को आगे बढ़ाने से क्यों रोका जाय ? चाहे धर्म हो या राजनीति, सर्वत्र यह बात लागू होती है । ऐसा विचार करने वाला कभी निराश नहीं होगा, बल्कि उसमें नई स्फूर्ति और नया उत्साह उत्पन्न होगा और वह आगे बढ़ता हुआ अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त करेगा ।

कई लोग कहते हैं—'खादी पहनने से स्वराज्य नहीं मिलेगा, किन्तु तलवार से मिलेगा।' कुछ का कहना है—एक आदमी के विलायती वस्त्र और शराब छोड़ देने से क्या कल्याण होगा ?

इस प्रकार की निराशा बहुत-से लोगों में व्यापी हुई है। तब शास्त्र कहते हैं—‘चलमाणे चलिण।’ शास्त्र का यह विधान मनुष्य के हृदय को आश्वासन देता है और बतलाता है कि एक समय मात्र की क्रिया भी व्यर्थ नहीं जाती। जब असंख्य समयों में होने वाला कार्य एक समय में भी ‘हुआ’ माना जाता है तो कोई कारण नहीं है कि असंख्य मनुष्यों से होने वाला कार्य एक मनुष्य से ‘हुआ’ न माना जाय। शास्त्र कहता है—तू अपनी तरफ से जो करता है, वह किये जा। दूसरों का विचार मत कर। अगर तुझे इतना भी विश्वास न होगा तो आगे सामायिक से मोक्ष पर विश्वास कैसे होगा ? कदाचित् यह कहा जाय कि सामायिक और मोक्ष में कार्य-कारण संबंध है, तो क्या खादी और स्वराज्य में कोई संबंध नहीं है ? मनचाहा खाना-पीना स्वतन्त्रता नहीं है। स्वतन्त्रता कुछ और ही चीज़ है।

एक तो आपके घर में, घर की खादी है, जिसे आपकी माता ने कात-बुनकर तैयार की है। एक दूसरा आदमी आपसे कहता है—अगर मेरे द्वार पर आकर, हाथ-जोड़ कर माँगे तो मैं तुम्हें कीमती ज़री का जामा दूँगा। इस प्रकार एक और माँ खादी देता है और दूसरी ओर दूसरा आदमी गुलाम बना कर ज़री का वस्त्र देता है। इन दोनों में से स्वतन्त्रता किसमें है ?

‘खादी में।’

यद्यपि यह बात समझना कठिन नहीं है, फिर भी इस ओर ध्यान नहीं दिया जाता। लोग समझते हैं कि गुलाम चाहे हों, मगर ज़री का जामा पहनने से लोगों में आदर होगा और अच्छा लगेगा। खादी मोटी है, इसलिए बुरी है। इस प्रकार की मिथ्या धारणाएँ लोगों को अपना शिकार बनाए हुए हैं।

तुम्हारी माँ ने जो कपड़ा कष्ट उठाकर बुना है, उसे मोटा कहकर न पहनना और गुलाम बनकर ज़री का जामा पहनना, कोई अच्छी बात नहीं है। इससे तुम्हारी कद्र न होगी। गुलाम बनाकर बख़ देने वाले जय अपना हाथ खींच लेंगे तब तुम पर कैसे बीतेगी ? इसके अतिरिक्त विदेशी कपड़ा मुफ्त में तो मिलता नहीं, फिर गुलाम बनने से क्या लाभ है ?

याद रखो, हिन्दुस्तान तुम्हारी मातृ-भूमि है। इसका तुम्हारे ऊपर असीम उपकार है। किसी ने ठीक कहा है—

जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी ।

जो अपनी मातृभूमि को स्वर्ग से भी बढ़कर नहीं मानता, उसे उस भूमि पर पैर रखने का क्या अधिकार है ?

शास्त्र कहता है—धर्म की आराधना करने वालों पर भी पाँच का उपकार है। उन पाँच में प्रथम पदकाय का उपकार है और पदकाय में भी सर्वप्रथम पृथ्वी का उपकार है। जो पृथ्वी का उपकार नहीं मानता वह कृतघ्न है।

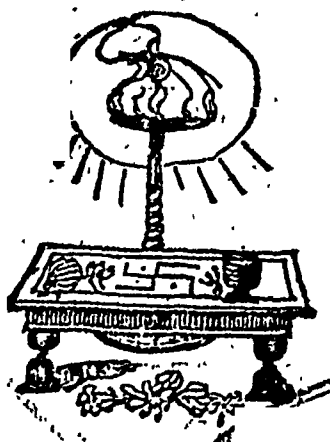
सुना जाता है कि अमेरिका के थौर नामक डाक्टर के शरीर पर साँप रेंगते रहते हैं, लेकिन उसे नहीं काटते। मधु-मक्खियाँ उसके शरीर पर बैठती रहती हैं, लेकिन उसे नहीं काटतीं। उसने भारतीय साहित्य का अध्ययन करके योग द्वारा साधना की है। एकवार वह अपने शिष्य के साथ जंगल में गया। शिष्य ने डाक्टर से पूछा—‘सब भूमियों में कौन-सी भूमि उत्तम है ?’ डाक्टर थौर ने हँसकर उत्तर

दिया-“जिस भूमि पर तू दो पैर रखकर खड़ा है, उसे स्वर्ग की भूमि से भी अच्छी न माने तो तुझे उस पर पैर रखने का क्या अधिकार है ?” शिष्य ने कहा-“क्या यह भूमि स्वर्ग की भूमि से भी अधिक महिमा वाली है ?” सुनते हैं, स्वर्ग की भूमि रत्नमयी है, फिर इस भूमि को स्वर्ग-भूमि से बड़ी क्यों मानना चाहिए ? डाक्टर ने उत्तर दिया-स्वर्ग की भूमि चाहे जैसी हो, तेरे किस काम की ? वहाँ के कल्पवृक्ष तेरे किस काम के ? स्वर्ग की भूमि को बड़ा मानना, तेरा जिस भूमि ने भार वहन किया और कर रही है, उसका अपमान करना है। इस भूमि का अपमान करना घोर कृतघ्नता है। अपनी मातृभूमि का अपमान करने वाले के समान कोई नीच नहीं है।

सच्चे हृदय से सेवा करने वाली घर की स्त्री का अनादर करके वेश्या की प्रशंसा करने वाला जैसे नीच गिना जाता है, वैसे ही वह व्यक्ति भी नीच है जो भारत में रहकर अमेरिका, फ्रांस आदि की प्रशंसा करता है और भारतवर्ष की निन्दा करता है। अमेरिका और फ्रांस की प्रशंसा के गीत गाने वाले बिना पास-पोर्ट लिए वहाँ जाकर देखें और वहाँ की नागरिकता के अधिकार प्राप्त करें तो सही ! जिस देश में पैदा हुए हैं, उसकी निन्दा करके, दूसरे देश की प्रशंसा करने वाले गिरे हुए हैं, भोग के कीड़ा हैं, उनसे किसी प्रकार का उद्देश्य सिद्ध नहीं हो सकता।

तात्पर्य यह है कि भोगों की लालसा से प्रेरित होकर आत्मिक कार्यों को छोड़ देना, यही गुलामी है, यही बंधन है और इसी से विविध प्रकार के दुःखों का उद्गम होता है।

भोगमय कपड़े छोड़कर त्याग को अपनाने वाले के लिए मुक्ति भी समीप है। भोगमय वस्त्रों का त्याग आनन्द श्रावक ने भी तो किया था। उसने कपास के बने एक युगलपट (चौम वस्त्र) का आगार रखकर शेष संमस्त वस्त्रों का त्याग कर दिया था। क्या इस त्याग को मोक्ष का मार्ग न मानोगे ? इस प्रकार पापमय वस्त्रों का त्याग कर हम अपने आत्मा का भी कल्याण क्यों न करें ? इन पापमय-भोगी-कपड़ों का त्याग करना सामायिक का अंग क्यों न कहा जाय ? वारहो व्रत सामायिक के अंग है, अतएव इन वस्त्रों का त्याग भी सामायिक है। त्याग द्वारा अपने भाइयों पर अनुकम्पा करना धर्म है। त्याग को जीवन में जितना स्थान मिलेगा, जितना उतना ही कल्याणमय बनेगा।



एकार्थ-अनेकार्थ-प्रश्नोत्तर

श्री गौतम स्वामी के प्रथम प्रश्न के अन्तर्गत नौ प्रश्नों का उत्तर भगवान् महावीर ने दिया । तत्पश्चात् गौतम स्वामी भगवान् के प्रति पुनः प्रश्न करते हैं—

मूल—एए एं भंते ! नव पया किं एगट्ठा ?
 एाणा घोसा ? एाणा वंजणा ? उदाहु एा-
 णट्ठां ? एाणा घोसा ? एाणा वंजणा ?

गोयमां ! चलमाणे चलिंए, उदीरिज्ज-
 माणे उदीरिंए, वेइज्जमाणे वेइंए, पहिज्जमाणे
 पहींए, एए एं चत्तारि पया एगट्ठा, एाणा
 घोसा, एाणा वंजणा उप्पणणपक्खस्स । छिज्ज-
 माणे छिण्णे, भिज्जमाणे भिण्णे, दइढमाणे दइढे,
 मिज्जमाणे मडे, निज्जरिज्जमाणे, निज्जिण्णे एए
 पंच पया एाणट्ठा, एाणा घोसा, एाणा वंजणा
 विगयपक्खस्स ।

व्याख्यान—गौतम स्वामी का प्रश्न यह है की इन नौ पदों के घोष और व्यंजन तो निराले-निराले हैं ही, परन्तु अर्थ भी इनका निराला-निराला है या एक ही ? अर्थात् यह पद एकार्थक हैं या नानार्थक हैं ?

एकार्थक पद दो प्रकार के होते हैं—प्रथम तो एक ही विषय की बात को एकार्थक कहते हैं, दूसरे जिन पदों का मतलब एक हो उन्हें भी एकार्थक कहते हैं ।

घोष तीन प्रकार के होते हैं—(१) उदात्त—जो उच्च स्वर से बोला जाय (२) अनुदात्त—जो नीचे स्वर से बोला जाय और (३) स्वरित्त—जो न विशेष उच्च स्वर से, न विशेष नीचे स्वर से बल्कि मध्यम स्वर से बोला जाय । इस विषय का विशेष ज्ञान स्वर-विज्ञान को समझने से हो सकता है ।

शास्त्रकार ने एकार्थक और नानार्थक की एक चौभंगी बनाई है—

- (१) समानार्थक समान व्यंजन
- (२) समानार्थक विविध व्यंजन
- (३) भिन्नार्थक समान व्यंजन
- (४) भिन्नार्थक भिन्न व्यंजन

कई पद समान अर्थ वाले और समान व्यंजन एवं समान घोष वाले होते हैं । जैसे—क्षीर-क्षीर । इन दोनों पदों का अर्थ एक है, घोष भी एक है और व्यंजन भी एक ही हैं । अतएव यह पद समानार्थक समान व्यंजन वाले पहले भंग के अन्तर्गत हैं ।

कई-एक पद समान अर्थ वाले और भिन्न व्यंजन वाले होते हैं। जैसे क्षीर, पय। यहां इन दोनों पदों का अर्थ तो समान है-दूध, लेकिन इनके व्यंजन अलग-अलग हैं, और घोष भी अलग हैं।

कई पद ऐसे होते हैं कि उनका अर्थ तो भिन्न-भिन्न होता है, मगर व्यंजन समान होते हैं। जैसे-अर्कक्षीर (आक का दूध), गो क्षीर (गाय का दूध), महिषीक्षीर (भैंस का दूध) आदि। इन पदों में क्षीर शब्द समान व्यंजन वाला है, लेकिन उसका अर्थ भिन्न-भिन्न है। अर्थात् अक्षरों की समानता होने पर भी अर्थ में विलक्षणता है।

अनेक पद ऐसे होते हैं जिनके व्यंजन भी भिन्न-भिन्न होते हैं। और अर्थ भी भिन्न-भिन्न होता है। जैसे—घट, पट, लकुट, आदि। यहाँ न व्यंजनों की समानता है, न अर्थ की समानता है। यह पद चौथे भंग के अन्तर्गत हैं।

गौतम स्वामी ने प्रश्न करते हुए यहाँ चौभंगी के दूसरे और चौथे भंग को ग्रहण किया है। अर्थात् उन्होंने इन दो भंगों को लेकर ही प्रश्न किया है। प्रश्न किया जा सकता है कि गौतम स्वामी ने उक्त चौभंगी के प्रथम और तृतीय भंग को क्यों छोड़ दिया? उनके विषय में प्रश्न क्यों नहीं किया? इसका उत्तर यह है कि पहले और तीसरे भंग का इन नौ पदों में समावेश नहीं होता, क्योंकि नव पदों के व्यंजन भिन्न-भिन्न हैं, यह स्पष्ट रूप से प्रकट है। इसमें प्रश्न को अवकाश ही नहीं है। इसी कारण गौतम स्वामी ने प्रथम और तृतीय भंग को छोड़ कर दूसरे और चौथे भंग को ग्रहण करके ही प्रश्न किया है।

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान ने फरमाया है कि—चलमाणे चलिप, उदीरिजमाणे उदीरिप, वेइजमाणे वेइप और पहिज्जमाणे पहीणे, इन चार पदों के व्यंजन और घोष निराले-निराले हैं, लेकिन अर्थ एक ही है। और आगे के पाँच पद भिन्न घोषों वाले, भिन्न व्यंजनों वाले और भिन्न अर्थ वाले हैं।

यहां यह आशंका होती है कि चलमाणे चलिप इत्यादि जिन चार पदों को एक अर्थ वाला बतलाया गया है, उनका अर्थ भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है और पहले भिन्न-भिन्न अर्थ ही किया भी गया है। ऐसी स्थिति में भगवान् ने किस अपेक्षा में चारों पदों का अर्थ एक फरमाया है ?

इस संबंध में शास्त्रकार का कथन है कि जो भी बात कही जाती है, वह किसी न किसी अपेक्षा से ही कही जाती है। यहां चारों पदों को उत्पन्न पक्ष की अपेक्षा से एकार्थक बतलाया गया है।

वादी और प्रतिवादी के द्वारा बोला जाने वाला आदि वचन पक्ष कहलाता है। यहां इन चारों पदों को उत्पाद नामक पक्ष-पर्याय को ग्रहण करके एक अर्थ वाला कहा है। तात्पर्य यह है कि प्राथमिक चार पदों का अर्थ उत्पाद पर्याय की अपेक्षा एक ही अर्थ है और यह चारों एक ही काल में होने वाले हैं। एक ही अन्तर्मुहूर्त्त में चलन क्रिया, उदीरण क्रिया, वेदना क्रिया, और प्रहीण क्रिया-भी हो जाती है। इन चारों की स्थिति एकही अन्तर्मुहूर्त्त है। इस प्रकार तुल्य काल की अपेक्षा से भी यह चार पद एक अर्थ वाले कहलाते हैं।

अथवा—यह चारों पद एक ही कार्य को उत्पन्न करने के कारण एकार्थक कहलाते हैं। उदाहरणार्थ—पत्र लिखने में कागज़, कलम, दावात और लिखने वाला, यह चार हुए; मगर यह सब मिलकर एक ही कार्य के साधक होते हैं, अतएव एकार्थक हैं।

यह चारों मिल कर एक कार्य कौन-सा करते हैं, जिस की अपेक्षा से इन्हें एकार्थक कहा गया है? इस प्रश्न का उत्तर है—केवलज्ञान का प्रकट करना। यह चारों मिलकर केवलज्ञान को प्रकट करने रूप एक ही कार्य के कर्त्ता होने से एक ही अर्थ वाले कहलाते हैं।

इन नौ पदों में कर्म का विचार किया गया है और कर्म का नाश होने पर दो फल उत्पन्न होते हैं—पहला केवलज्ञान और दूसरा मोक्षप्राप्ति। पहले के चार पदों ने मिलकर केवलज्ञान उत्पन्न किया। इस पक्ष की अपेक्षा चारों पदों का अर्थ एक बतलाया गया है।

आत्मा के लिए केवलज्ञान की प्राप्ति अपूर्व है। आत्मा को पहले कभी केवलज्ञान प्राप्त नहीं हुआ, क्योंकि केवलज्ञान एक बार उत्पन्न होने के पश्चात् कभी मिटता नहीं है। जो वस्तु आकर फिर चली जाती है वह प्रधान नहीं है। प्रधान तो वही है जो आकर फिर कभी न जावे। केवलज्ञान ऐसी ही वस्तु है, अतएव प्रधान है। प्रधान पुरुष इसे ही प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं।

शंका—इन चार पदों से केवलज्ञान की ही उत्पत्ति क्यों मानी गई है? दूसरे ज्ञानों की उत्पत्ति क्यों नहीं मानी गई?

समाधान—सब ज्ञानों में केवलज्ञान ही उत्कृष्ट है। वही ज्ञाधिक ज्ञान है। कर्मों का क्षय होने से वही उत्पन्न होता है। इन चार पदों से अन्य ज्ञानों की उत्पत्ति मानी जाय तो अनेक बाधाएँ उत्पन्न होती हैं। अतः इन पदों से केवलज्ञान की उत्पत्ति मानना ही समुचित है। और इसी अपेक्षा से इन चार पदों को समान अर्थ वाला बतलाया गया है।

शंका—केवलज्ञान की उत्पत्ति में यह चार पद क्या काम करते हैं? दो या तीन पदों से ही केवलज्ञान क्यों नहीं उत्पन्न होता? केवलज्ञान के लिए इन चारों की आवश्यकता क्यों है?

समाधान—पहला पद 'चलमाणे चलिण' है। वह केवलज्ञान की प्राप्ति में यह काम करता है कि इससे कर्म उदय में आने के लिए चलित होते हैं। कर्म का उदय दो प्रकार से होता है—उदय भाव से और उदीरणा से। स्थिति का क्षय होने पर कर्म अपना जो फल देता है वह उदय कहलाता है और अध्यवसाय-विशेष या तपस्या आदि क्रियाओं के द्वारा जो कर्म स्थिति पूर्ण होने से पहले ही उदय में लाये जाते हैं, उसे उदीरणा कहते हैं। दोनों ही जगह उदय तो समान ही है, मगर एक जगह स्थिति का परिपाक होता है और दूसरी जगह नहीं। उदय या उदीरणा होने पर कर्म की वेदना होती है अर्थात् कर्म के फल का अनुभव होता है।

जिस कर्म के फल का अनुभव हो गया, वह कर्म नष्ट हो जाता है—आत्मा के प्रदेशों से पृथक् हो जाता है। उसे कर्म का 'पहीण' होना कहते हैं।

इस प्रकार यह चारों पद आत्मप्रदेश से कर्मों को हटा देते हैं, तब केवलज्ञान प्रकट होता है। केवलज्ञान के इस उत्पन्न पक्ष को ग्रहण करके ही इन चारों पदों को एकार्थक कहा है।

टीकाकार आचार्य का कथन है कि यह व्याख्या भगवती-सूत्र की प्राचीन टीका के आधार पर की गई है। अन्य आचार्यों का अभिप्राय इस संबंध में भिन्न प्रकार का है। उनका कथन है कि यह चार पद स्थितिबंध-विशेष रहित अर्थात् सामान्य कर्म के आश्रित होने से एकार्थक हैं और केवलज्ञान की उत्पत्ति के साधक हैं। एक ही अन्तर्मुहूर्त्त में, यह केवलज्ञान की उत्पत्ति के लिए व्यापार करते हैं। अतएव इन्हें एकार्थक कहा गया है।

प्रश्न—पहले के चार पदों को एकार्थक बतलाने से ही यह सिद्ध हो जाता है कि शेष अंत के पाँच पद अनेकार्थक हैं। फिर उन्हें अलग अनेकार्थक क्यों कहा है ?

उत्तर—सूत्र की रचना दो प्रकार से होती है—एक विद्वत्तापूर्वक, दूसरी दयापूर्वक। विद्वत्तापूर्वक जो रचना होती है उसमें संक्षेप का बहुत ध्यान रखना पड़ता है। वही अर्थ कायम रहे और रचना में एक मात्रा की कमी हो जाय तो ऐसे लेखकों को इतनी खुशी होती है, मानों पुत्र की उत्पत्ति हुई हो। ‘एकमात्रा लाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः’ यह कथन प्रसिद्ध है। मगर ऋषियों की रचना इस दृष्टि से नहीं रची जाती। वे अपनी विद्वत्ता प्रदर्शित करने के लिए रचना में संक्षेप करने की आवश्यकता नहीं समझते। अल्प से अल्प बुद्धि वाला भी जिस प्रकार वस्तु-तत्त्व को समझ सके, उसी प्रकार का यत्न वे करते हैं। चाहे अक्षर बढ़ जायँ

तो बढ़ जाएँ । यही कारण है कि शास्त्रकार ने पहले के चार पदों को एकार्थक बतलाकर भी, अंत के पांच पदों को अलग अनेकार्थक बतलाया है ।

तात्पर्य यह कि 'छिज्जमाणे छिण्णे' से लगाकर 'निज्जरिज्जमाणे निज्जिण्णे' तक के पांच पद भिन्न-भिन्न व्यंजन वाले, विभिन्न घोष वाले और भिन्न-भिन्न अर्थ वाले हैं । यह बात विगत पक्ष की अपेक्षा से कही गई है । यहां इन पांच पदों का जरा विस्तार से विचार किया जाता है ।

अंतिम पांच पदों में 'छिज्जमाणे छिण्णे' यह प्रथम पद है । यह पद कर्मों की स्थिति की अपेक्षा से है । केवल ज्ञान की प्राप्ति हो जाने के अनन्तर, तेरहवें गुणस्थान वाले सयोग केवली, जब अयोग केवली होने वाले होते हैं, मन, वचन, काय के योग को रोक कर अयोगी अवस्था में पहुँचने के उन्मुख होते हैं, तब वेदनीय, नाम, गोत्र कर्म की जो प्रकृति शेष रहती है, उसकी लम्बे काल की स्थिति को सर्वापवर्त्तन नामक करण द्वारा अन्तर्मुहूर्त्त की स्थिति बना डालते हैं । अर्थात् लम्बी स्थिति को छोटी कर लेते हैं । यही कर्मों का छेदन करना कहलाता है ।

यद्यपि कर्मों का यह छेदन असंख्यात समयों में होता है लेकिन प्रथम समय में ही, जब छेदन-क्रिया होने लगी तभी छिजे-छिन्न हुए, ऐसा कहना चाहिए ।

कर्मों के छेदन होने में और भेदन होने में अन्तर है । छेदन स्थिति बंध के आश्रित हैं और भेदन अनुभागबंध के आश्रित हैं । स्थिति का छेदन होना 'छिज्जमाण' होना

कहलाता है और कर्मों के रस का भेदन करना ' भिज्जमाण ' होना कहलाता है । तेरहवें गुणस्थानवर्त्ती सयोग केवली स्थितिघात के साथ रसघात भी करते हैं ।

स्थितिघात और रसघात का काल एक ही होता है, लेकिन स्थितिघात के खंडवें में रसघात के खंडवें अनन्त होते हैं । अर्थात् स्थिति से कर्म के परमाणु अनन्त गुणे हैं । स्थिति खंड की क्रम-रचना होती है-कि इस समय इतने स्थिति खंड का नाश होगा । अतएव यद्यपि कर्म स्थिति और 'कर्म-रस का नाश एक ही समय होता है, लेकिन स्थितिघात के पुद्गल अलग हैं और रसघात के अलग हैं । इस कारण छिज्जमान और भिज्जमाण पदों का अर्थ अलग-अलग है ।

जैसे स्थिति कम की जाती है उसी प्रकार रस भी सोखा जाता है । इस रस के सोखने में भी असंख्य समय लगते हैं, परन्तु पहले समय से जो रसघात होता है, उसकी अपेक्षा रसघात हुआ, ऐसा कहा जा सकता है ।

तीसरा पद 'दह्यमान' है । कर्म के प्रदेशों का घात होना कर्म का दाह कहा गया है । अनन्तानन्त कर्म-प्रदेशों को अकर्म रूप में परिणत कर देना कर्म का दाह करना कहलाता है ।

मोक्ष प्राप्त करने वाले महात्मा किस स्थिति से, किस प्रकार आत्मिक विशुद्धि करके मुक्त होते हैं, इस बात को ज्ञानियों ने अपने ज्ञान में देखा है और आज शास्त्र द्वारा उसे सुनकर हम पवित्र हुए हैं ।

प्रदेश का अर्थ है—कर्म का दल। पाँच ह्रस्व अक्षर उच्चारण-काल जितने परिमाणवाली और असंख्यात समय युक्त गुणश्रेणी की रचना द्वारा कर्म प्रदेश का क्षय किया जाता है। यद्यपि वह गुणश्रेणी है सिर्फ पाँच ह्रस्व अक्षर उच्चारण-काल के बराबर काल वाली है, लेकिन इतने-से काल में ही असंख्यात समय हो जाते हैं। वह गुणश्रेणी पूर्वरचित होती है। तेरहवें गुणस्थान से ही उस गुणश्रेणी की रचना होती है। इस गुणश्रेणी से समुच्चिन्न क्रिया नामक शुक्लध्यान का चौथा पाया उत्पन्न होता है। उसमें पहले समय से असंख्य समय तक प्रतिसमय असंख्य गुणा वृद्धि से कर्म-पुद्गल को दग्ध किया जाता है। अर्थात् पहले समय में जितने कर्म-पुद्गल दग्ध होते हैं, उससे असंख्यात गुणे दूसरे समय में दग्ध होते हैं। इसी प्रकार तीसरे समय में, दूसरे समय की अपेक्षा भी असंख्यात गुणे कर्मों को दग्ध किया जाता है, इस प्रकार दग्ध करने का क्रम बढ़ता जाता है। इसका कारण यह है कि ज्यों-कर्मपुद्गल दग्ध होते जाते हैं, त्यों त्यों ध्यानाग्नि अधिक प्रज्वलित होती जाती है और वह अधिकाधिक कर्मपुद्गलों को दग्ध करती है।

इस प्रकार भिद्यमान और दह्यमान पदों का अर्थ भी अलग-अलग है। पाँच ह्रस्व अक्षर उच्चारण करने में असंख्यात समय लगते हैं। इन असंख्यात समयों में से पहले ही समय में जो कर्मपुद्गल दग्ध होते हैं, उनकी अपेक्षा उन्हें 'दग्ध हुए' ऐसा कहा जा सकता है।

यद्यपि जला देना दूसरी वस्तुओं के संबंध में भी लोक में प्रसिद्ध है, किन्तु यहाँ उसे ग्रहण नहीं करना चाहिए।

यहाँ मोक्ष-विचार का प्रकरण है अतः कर्मों को जलाना अर्थ ही मानना उचित है ।

चौथा पद है—‘मिज्जिमाणे मडे ।’ अर्थात् जो मर रहा है वह मरा । इस पद से आयु कर्म के नाश का निरूपण किया गया है । अन्य पदों से इस पद का अर्थ भिन्न है । आयु कर्म के पुद्गलों का क्षय करना ही मरण है ।

प्रत्येक योनि वाला संसारी जीव मरण करता है । संसार में कोई भी ऐसा प्राणी नहीं है, जिसे लगातार जन्म-मरण न करना पड़ता हो । लेकिन यहाँ सामान्य मरण से अभिप्राय नहीं है । यहाँ उस मरण से तात्पर्य है कि जिसके पश्चात् फिर कभी जन्म-मरण न करना पड़े—अर्थात् वह मरण जो मोक्ष प्राप्त करने से पहले, एक बार करना पड़ता है । पहले बँधे हुए आयु कर्म का क्षय होजाय और नया आयु कर्म न बँधे, यही मोक्ष का कारण है ।

यद्यपि मरण असंख्यात समय में होता है, लेकिन पहले समय में ही जो मरने लगा, उसे ‘मरा’ कहा जा सकता है ।

पाँचवा पद है—‘निज्जरिज्जमाणे निज्जिण्णे ।’ समस्त कर्मों को अकर्म रूप में परिणत कर देना यहाँ निर्जरा करना कहा गया है । यह स्थिति संसारी जीव ने कभी नहीं प्राप्त की है । उसने कभी शुभ कर्म किये, कभी अशुभ कर्म किये, परन्तु समस्त कर्मों का नाश कभी नहीं किया । आत्मा के लिए यह स्थिति अपूर्व है । अतएव इस पद का अर्थ अन्य पदों से भिन्न है । इस प्रकार अन्त के पाँचों पद भिन्न-भिन्न अर्थ वाले हैं ।

भूना चाहिए। इस तरह 'चलमाणे चलिए' आदि पदों से भगवान् ने यह सूचित किया है कि वस्तु तीनों कालों में विद्यमान रहती है।

श्रीसिद्धसेन दिवाकर कहते हैं कि 'चलमाणे' इस कथन से वर्तमान काल और भविष्यकाल का बोध होता है; अतएव गौतम स्वामी भगवान् से प्रश्न करते हैं कि द्रव्य भूतकाल में भी होगा या नहीं ?

आरम्भिक क्रिया से लेकर अन्तिम समय की क्रिया तक वर्तमान और भविष्य का बोध होता है और 'उत्पन्न' कहकर भगवान् ने भूतकाल का बोध कराया है। इस प्रकार पूर्वोक्त नौ पदों से यह सिद्ध होता है कि द्रव्य भूत, वर्तमान और भविष्य-तीनों कालों में विद्यमान रहता है। इस प्रकार इन पदों में कर्म की चर्चा होने पर भी द्रव्य की चर्चा का भी समावेश हो जाता है।

किसी-किसी आचार्य का अभिप्राय यह है कि इन नौ पदों के विषय में शास्त्र में कहीं ऐसा उल्लेख नहीं है कि यह पद कर्म के विषय में ही कहे गये हैं। ऐसी स्थिति में इन्हें कर्म के सन्त्यन्ध में ही मानने का कोई कारण नहीं है। अतएव इन्हें कर्म के विषय में सीमित न रखकर वस्तु-मात्र के विषय में लागू करना चाहिए।

पहले के चार पद उत्पत्ति के सूचक हैं और अन्त के पाँच पद विनाश के सूचक हैं। इन्हें प्रत्येक वस्तु पर घटाया जा सकता है, क्योंकि प्रत्येक वस्तु उत्पाद और विनाश से युक्त है। मगर प्रश्न यह है कि इन्हें सामान्य रूप से पदार्थ

मात्र पर कैसे घटाया जा सकता है ? इस व्याख्या में पहले के चार पद नाना व्यंजन, नाना घोष वाले और एकार्थक का हिसाब कैसे बैठेगा ?

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए वह आचार्य कहते हैं कि हमारे अर्थ में नाना-व्यंजन, नाना घोष और एक अर्थ घटाने में कोई बाधा नहीं है। क्योंकि शास्त्र में उत्पत्ति पक्ष और विगत पक्ष को स्पष्ट कर दिया है। नौ पदों को सामान्य रूप कहने का कारण यह है।

पहला पद है—‘चलमाणे चलिणं ।’ यह चलन अकेले कर्म में नहीं, वरन् पदार्थ मात्र में पाया जाता है। चलन का अर्थ है—अस्थिरता। अस्थिरता रूप पर्याय को मुख्य करके यहाँ पदार्थ की उत्पत्ति बतलाई गई है।

दूसरा पद है—‘उदीरिज्जमाणे उदीरिणं ।’ जो वस्तु स्थिर है उसे प्रेरणा करके चला देने को ‘उदीरणा’ कहते हैं। अतएव उदीरणा भी एक प्रकार की चलन-क्रिया ही है।

तीसरा पद है—‘वेइज्जमाणे वेइणं ।’ ‘वि’ उपसर्ग-पूर्वक ‘एजृ’ धातु से ‘व्येजन’ शब्द बना है। व्येजन का अर्थ है—काँपना। काँपना स्वरूप की अपेक्षा उत्पन्न होना ही है।

चौथा पद है ‘पहिज्जमाणे पहीणे ।’ अर्थात् जो प्रभ्रष्ट-भ्रष्ट हो रहा है वह भ्रष्ट हुआ। अपने स्थान से पतित होना—गिर जाना—भ्रष्ट होना कहलाता है। यह भी एक प्रकार की चलन-क्रिया ही है। बिना चले कोई वस्तु अपने स्थान से

गिर नहीं सकती, इसलिए चलन है। इस प्रकार यह चारों पद एकार्थक ही हैं।

उत्पत्ति—चलन किया इन चारों पदों में विद्यमान है, अतएव शास्त्रकार ने इन्हें एकार्थक कहा है और व्यंजनों एवं घोषों की विभिन्नता तो स्पष्ट ही है।

इन आचार्य का अभिप्राय यह है कि पूर्वोक्त कर्म संबंधी विशेष पक्ष ग्रहण करने से उसमें इस सामान्य पक्ष का समावेश नहीं हो सकता, क्योंकि वह कर्म तक ही सीमित रहता है; मगर इस सामान्य पक्ष में विशेष पक्ष का अन्तर्भाव हो जाता है। जैसे 'मनुष्य' में राजा-रंक सभी का समावेश होता है, मगर 'राजा' कहने में रंक का समावेश नहीं होता। इसी प्रकार हमारी व्याख्या में कर्म का भी समावेश हो जाता है, तथा अन्य पदार्थों का भी समावेश हो जाता है; मगर कर्म रूप विशेष पक्ष में अन्य पदार्थों का समावेश नहीं होता। इसलिए सामान्य पक्ष ग्रहण करके इन पदों की व्याख्या करनी चाहिए।

अब प्रश्न यह है कि शेष पाँच पदों की संगति किस प्रकार बिठलाई जायगी ? इस प्रश्न का समाधान यह है:—

इन पाँच पदों का कर्म रूप विशेष पक्ष स्वीकार करके व्याख्यान किया गया है, मगर यह भी वास्तव में सामान्य रूप ही हैं। कर्म को विशेष करने से यह पद विशेष हो गये हैं, लेकिन वास्तव में यह पद सामान्य है। 'छिज्जमाणे' आदि पद सामान्य रूप से किया वाचक हैं। छेदन चाहे कर्म का हो, चाहे किसी अन्य वस्तु का, सभी के लिए समान रूप से वह

लागू हो सकते हैं। इसी प्रकार भेदन कर्म का भी होता है और अन्य वस्तुओं का भी। जलना, मरना, जर्जरित होना, आदि क्रियाएँ भी अकेले कर्म से ही संबंध नहीं रखती, अपितु सभी से उनका संबंध है। इससे यह स्पष्ट है कि यह पद भी सामान्य रूप ही है, विशेष रूप नहीं।

इन पदों को भिन्न अर्थ वाला क्यों कहा है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि छेदन-भेदन आदि भिन्न-भिन्न क्रियाएँ हैं। जैसे कुल्हाड़ी से वृक्ष की शाखा को छेद डालना पृथक् है और तीर से शरीर को भेद डालना पृथक् है। छेदन तो अलग-अलग कर देता है और भेदन भीतर घुसने को कहते हैं। इस प्रकार छेदन और भेदन में अन्तर है। इसी प्रकार अग्नि से घास-फूस को जलाना छेदन-भेदन से पृथक् है। मरण, प्राण-त्याग करने को अथवा वस्तु के बदल जाने को कहते हैं। अतएव यह भी छेदन-भेदन और ज्वलन से भिन्न ही हुआ, क्योंकि जीव बिना छेदन, भेदन किये और बिना जलाये भी मर जाता है। अगर मरण इन क्रियाओं से भिन्न न होता तो ऐसा क्यों होता। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मरने की क्रिया पूर्वोक्त क्रियाओं से न्यायी है।

बहुत पुराने को जीर्ण कहते हैं। निर्जरना का अर्थ है-जर्जरित होना। पदार्थ बिना छेदे, भेदे, जलाये भी ऐसा जर्जरित हो जाता है कि दीखता तो है मगर हाथ लगाते ही बिखरने लगता है। अतएव निर्जीर्ण होना भी छेदन-भेदन आदि से भिन्न समझना चाहिए। इस तरह उक्त पाँचों पद भिन्नार्थक हैं, यह बात स्पष्ट हो जाती है।

अब यह पूछा जा सकता है कि विगत पक्ष का अर्थ क्या है ? विगत का अर्थ है विनाश होना । यह पाँचों पद भिन्नार्थक हैं, लेकिन विगत पक्ष का समावेश इन पाँचों में होता है । छेदन, भेदन आदि से वस्तु का विनाश हो जाता है, अतः यह पाँचों पद विगत पक्ष की अपेक्षा हैं, यह कहना उचित ही है ।

इस प्रकार सामान्य पक्ष के समथक आचार्यों का कथन है कि आपका पक्ष एक देशीय और हमारा पक्ष सर्वदेशीय है ।

शंका—शास्त्र तत्त्व का निरूपण करता है । वह संसार की साधारण बातों पर प्रकाश नहीं डालता । अतएव हमने विशेष पक्ष लेकर इन पदों के द्वारा तत्त्व का व्याख्यान किया है, वही ठीक है । सामान्य पक्ष स्वीकार कर आपने संसार की सभी बातों का समावेश कर दिया है । संसार के छेदन-भेदन की क्रिया तो चलती ही रहती है । उस पर विचार की क्या आवश्यकता है । वह तो अतत्त्व-रूप है । शास्त्र को उससे क्या प्रयोजन ? शास्त्र तो केवल तत्त्व की बात बतलाता है ।

समाधान—इस कथन से यह प्रकट होता है कि आप को तत्त्व-अतत्त्व का समीचीन बोध नहीं है । क्या अकेला मोक्ष ही तत्त्व हैं ? दूसरे तत्त्व नहीं हैं ? अगर ऐसा होता तो शास्त्रकारों ने नरक, स्वर्ग आदि का वर्णन क्यों किया है ? अगर मोक्ष ही अकेला तत्त्व-रूप माना जाय तो उसके सिवा सभी अतत्त्व ठहरते हैं । मगर ऐसा नहीं है । हमने जो व्याख्या की है वह तार्त्विक ही है, अतार्त्विक तानिक भी नहीं है ।

तो क्या शाक-भाजी का छिदना, भाले से किसी चीज़ का भिदना, घास-फूस का जलना, मर जाना और जर्जरित होना भी तत्त्वरूप है ? इसका उत्तर है—हाँ, अवश्य । विना तत्त्व की कोई बात ही नहीं है । संसार के समस्त पदार्थों का जिन-प्रणीत तत्त्वों में समावेश हो जाता है । ऐसा कोई पदार्थ विद्यमान नहीं, जो तत्त्व से वहिर्भूत हो ।

शंका—विना तत्त्व की कोई बात नहीं है, इसे स्पष्ट कीजिए ?

समाधान—पहला पद 'चलमाणे चलिण' है । इसके विरुद्ध जो 'चलमाणे अचलिण' कहता है उसे निश्चयनय का ज्ञान नहीं है । यदि 'चलमाणे' को 'चलिण' न कहा जाय तो निश्चयनय उठ जाता है । अतः निश्चयनय का ज्ञान कराने के लिए ही उक्त नौ पद कहे गये हैं । यह बात तनिक और स्पष्टता से समझाई जाती है ।

कल्पना कीजिए—एक मनुष्य कह रहा है कि अमुक पुरुष कलकत्ता की ओर चल रहा है । अब उसे 'गया हुआ' कहें या 'नहीं गया हुआ' कहें ? अभी उस पुरुष ने कलकत्ता की ओर एक ही पैर उठाया है, वह कलकत्ता पहुँचा नहीं है । कलकत्ता सौ योजन दूर है । चला कम है और चलना अधिक है । ऐसी दशा में उसे गया कैसे कहा जाय ?

जो ऐसा प्रश्न करता है उसे व्यवहार का ज्ञान तो है, पर निश्चय का ज्ञान नहीं है । ज्ञानी जन निश्चय की अपेक्षा जो कथन करते हैं, उसका प्रश्नकर्त्ता को भान नहीं है । इस

न जानी हुई बात को समझा देने का नाम ही सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त और निश्चय नय की अपेक्षा चल रहे को चला कहना चाहिए।

व्यवहार नय की अपेक्षा, जो कलकत्ता जा रहा है, उसे 'चलता' माना जाता है, 'गया' नहीं माना जाता। निश्चय नय कहता है कि जो चलने लगा वह चला अर्थात् जिसने गमन क्रिया आरंभ कर दी वह गया, ऐसा मानना चाहिए।

विशेषावश्यक भाष्य में इस प्रश्न की विस्तार पूर्वक विवेचना की गई है। वहां जमाली के 'चलमाणे अचलिण' इस मत पर विचार कर इसका सहेतुक खंडन किया गया है और 'चलमाणे चलिण' इस सिद्धान्त की स्थापना की गई है।

जो लोग यह कहते हैं कि मोक्ष की चर्चा ही तत्त्व है, उन्हें यह भी समझना चाहिए कि क्या शास्त्र में परमाणु की चर्चा, काल की चर्चा, क्षेत्र की चर्चा नहीं की गई है? अगर की गई है तो किस दृष्टि से? शास्त्र में अगर पुण्य की बात कहीं है तो क्या पाप की बात नहीं कही है? बंध का विवेचन है तो क्या निर्जरा का विवेचन नहीं है? शास्त्र में सभी विषयों की यथोचित चर्चा है और यह सभी मोक्ष में निमित्त होते हैं।

'चलमाणे चलिण' इस सिद्धान्त को स्वीकार न करने से अनेक दोष आते हैं। भगवती सूत्र में आगे वर्णन आएगा कि गौतम स्वामी ने भगवान् से प्रश्न किया—प्रभो! एक मुनि भिक्षा-चर्या के लिए गया। मोहनीय कर्म के उदय से वहाँ उसे कोई दोष लग गया। दोष तो लग गया मगर बाद में मुनि को पश्चात्ताप हुआ। उसने विचार किया कि मैं गुरु

महाराज की सेवा में उपस्थित होकर इस दोष की आलोचना करूँगा। आलोचना करने का संकल्प करके उसने गुरु महाराज की सेवा में प्रस्थान किया। किन्तु वहाँ पहुँचने से पहले ही—मार्ग में ही मृत्यु को प्राप्त हो गया। ऐसी स्थिति में दोष लगाने वाला वह मुनि आराधक कहलाएगा या नहीं ?

भगवान् ने उत्तर दिया—आराधक होगा।

गौतम स्वामी ने फिर पूछा—अभी उसने आलोचना तो की ही नहीं है, फिर आराधक कैसे हो गया ?

भगवान् ने फरमाया—‘चलमाणे चलिण’ अर्थात् जो चलने लगा वह चला, इस सिद्धान्त के अनुसार वह मुनि आराधक है। वह आलोचना करने चला, मगर कार्य पूर्ण न हुआ तो यह उसके अधिकार की बात नहीं है।

अगर ‘चलमाणे चलिण’ सिद्धान्त न माना जाय तो आराधक पद में भी कमी आ जायगी और इस प्रकार मोक्ष का भी अभाव हो जायगा।

इस प्रकार निश्चय नय की अपेक्षा जो चलने लगा वह चला, ऐसा मानना उचित है। लेकिन केवल निश्चय नय को ही मानकर बैठ रहने से और व्यवहार का त्याग कर देने से भी काम नहीं चल सकता। निश्चय और व्यवहार-दोनों का ही यथायोग्य आश्रय लेना चाहिए। एक दूसरे की अपेक्षा रखने वाला नय ही सम्यक् होता है अन्य-निरपेक्ष नय एकांत रूप होने से मिथ्या है। एकान्त व्यवहारवादी परमार्थ से दूर रहता है और एकान्त निश्चयवादी भी परमार्थ तक नहीं पहुँच सकता। इसीलिए कहा है—

निरपेक्षा नया मिथ्यः, सापेक्षा वस्तुतोऽर्थकृत् ।

यहाँ एक शंका और होती है । वह यह कि 'चलमाणे चलिए' यह प्रश्न पहले क्यों पूछा गया है ? पहले इस शंका के विषय में कहा गया था कि यह पद मोक्ष के लिए है; मगर अब तो वह मोक्ष के लिए नहीं रहा, सामान्य रूप से सभी के लिए हो गया । अतएव जहाँ पहले पद को मांगलिक कहा था, वहाँ अब यह मांगलिक न रहा तब फिर इस अमांगलिक पद को सर्वप्रथम स्थान देने का क्या प्रयोजन है ?

इसका उत्तर दूसरे आचार्यों ने यह दिया है कि सर्वप्रथम 'नमोऽस्तुभ्य' कहकर मंगल किया ही है; फिर तत्त्वचिन्ता की सभी बातें मांगलिक ही होती हैं । इस 'चलमाणे चलिए' रूप तत्त्व चिन्ता का अन्त मोक्ष है । अतएव यह पद भी मांगलिक ही है । इसमें मोक्ष प्राप्ति का विवेचन भी अन्तर्भूत हो जाता है ।

मोक्ष की प्राप्ति जीव को ही होती है । अतएव जीव तत्त्व का मूल स्वरूप समझ लेने पर ही मोक्ष का स्वरूप ठीक ठीक समझ में आ सकता है । जीव का स्वरूप समझने के लिए यह समझना भी आवश्यक है कि वह कितने प्रकार के हैं और वर्तमान में किस-किस स्थिति में विद्यमान हैं ।

जीव के भेद बतलाने के लिए संक्षेप में कहा गया है—

नेरइया असुराई पुढेई बेइंदियादओ चेव ।
पंचिदिय-तिरिय-नरा, वितरजोइसियवेमाणी ॥

नय के मत के अनुसार जीव के चौबीस भेद हैं। इन चौबीस भेदों में पहला दण्डक नारकी का है, दस दण्डक असुरकुमार आदि के हैं, पाँच दण्डक पृथ्वीकाय आदि के हैं, तीन दण्डक दो-इन्द्रिय आदि के अर्थात् द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय के हैं, एक दण्डक पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च का है, एक दण्डक मनुष्य का, एक दण्डक व्यन्तर देवों का, एक दण्डक ज्योतिषी का और एक दण्डक वैमानिक का। इन चौबीस भेदों में ही संसार के समस्त (अनन्तानन्त) प्राणियों का समावेश हो जाता है।

प्रश्न किया जा सकता है कि अनन्तानन्त प्राणियों का चौबीस भेदों में अन्तर्भाव करने का प्रयोजन क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जब किसी वस्तु की गणना करना शक्य न हो तो वर्गीकरण का सिद्धान्त काम में लाया जाता है। कल्पना कीजिए, एक वन है। उसमें अनेक प्रकार के वृक्ष लगे हैं। उन वृक्षों की गणना की जाय तो बड़ी ही कठिनाई उपस्थित होगी, लेकिन उन्हीं वृक्षों की कोटियां घना ली जाएँ तो सुगमता होगी। जब संख्यात की गणना करने में ही कठिनाई आती है तो अक्षय की गणना किस प्रकार हो सकती है, यह सहज ही समझ में आ सकता है। अतएव अनन्तानन्त जीवों का चौबीस प्राणियों में वर्गीकरण करने से उनका पता लग जाता है।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि किसी भी वस्तु को श्रेणी-वद्ध करने के लिए कोई एक निश्चित नियम नहीं है। यह विभाजक की इच्छा पर बहुत कुछ निर्भर रहता है। विभाजक

अपनी सुविधा के अनुसार किसी भी सदृश धर्म को आधार मानकर अभेद और विसदृश धर्म को आधार बनाकर भेद की कल्पना करता है; क्योंकि वस्तुओं में अनेक सदृश और विसदृश धर्म विद्यमान हैं। यहाँ व्याख्या की सुगमता के लिए चौबीस भेदों की कल्पना की गई है, यद्यपि इससे भी कम या अधिक की कल्पना की जा सकती है और अन्यत्र की भी गई है।

यहाँ इन चौबीस भेदों को दण्डक इसलिए कहा है कि इन स्थानों में रहकर आत्मा ने घोर कष्ट सहन किये हैं। यह चौबीस दण्ड के स्थान हैं। अनादि काल से अब तक आत्मा इनमें निवास करके दण्ड भोग रहा है। यद्यपि इस जन्म में कुछ सुख मिला है, लेकिन वह सुख, स्थायी शान्ति देने वाला नहीं है, अतएव इसे भी दण्डक कहा है। आत्मा ने नरक आदि पर्यायों में रहकर किस प्रकार दुःखमय स्थिति भोगी है, इस बात को दिखाने के लिए ही शास्त्रकारों ने नरक आदि के भेद दिखलाये हैं। इनका विवरण क्रम से आगे किया जायगा।



गाथाः—

ठिई उस्सासाहारे किं वाऽऽहारैति सव्वञ्चो वा वि ।
कतिभागं सव्वाणि वं, कीस व भुज्जो परिणमन्ति ॥

संस्कृत-छाया—प्रश्न-नैरयिकाणां भगवन् ! कियत्कालं
स्थितिः प्रज्ञप्ता ?

उत्तर-गौतम ! जघन्येन दशवर्षसहस्राणि, उत्कृष्टेन त्रयस्त्रिं-
शत् सागरोपमाणि स्थितिः प्रज्ञप्ता ।

प्रश्न-नैरयिका भगवन् ! कियत् कालाद् आनन्ति वा प्राण-
न्ति वा ? उच्छ्वसन्ति वा निःश्वसन्ति वा ?

उत्तर-यथा उच्छ्वासपदे ।

प्रश्न-नैरयिका भगवन् ! आहारार्थिनः ?

उत्तर-यथा प्रज्ञापनायां प्रथम आहारोद्देशकः, तथा भणितव्यम् ।

गाथा-स्थितिरुच्छ्वासाऽऽहारः, किं वाऽऽहरन्ति सर्वतो वाऽपि ।
कतिभागं सर्वाणि वा, किं स्वतया वा भूयः परिणमन्ति ॥

मूलार्थः—

प्रश्न-हे भगवन् ! नारकों की स्थिति कितने समय
की कही है ?

उत्तर—हे गौतम ! जघन्य से दस हजार वर्ष की स्थिति कही है और उत्कृष्ट रूप से तैतीस सागरोपम की स्थिति कही है ।

प्रश्न—हे भगवन् ! नारकी कितने समय में श्वास लेते हैं ? और कितने समय में श्वास छोड़ते हैं ?

उत्तर—उच्छ्वास पद के अनुसार समझना चाहिए ।

प्रश्न—भगवन् ! नारकी आहारार्थी हैं ?

उत्तर—गौतम ! परणवणासूत्र के आहारपद के पहले उद्देशक के अनुसार समझना ।

गाथा का अर्थ—नारकी जीवों की स्थिति, उच्छ्वास, तथा आहार सम्बन्धी कथना करना चाहिए । नारकी क्या आहार करते हैं ? समस्त आत्मप्रदेशों से आहार करते हैं ? समस्त आहारक द्रव्यों का आहार करते हैं ? और आहार के द्रव्यों को किस रूप में परिणमाते हैं ?

व्याख्या—श्री गौतम स्वामी, भगवान् महावीर से पूछते हैं कि हे भगवन् ! आपने जीव के चौबीस दंडक कहे हैं, उन में से नरक-योनि के जीव की स्थिति कितनी है ? अर्थात् जीव नरक में कितने समय तक बना रहता है ?

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् ने फरमाया—हे गौतम ! स्थिति दो प्रकार की होती है—एक जघन्य, दूसरी

वत्कृष्ट। अर्थात् एक कम से कम और दूसरी ज्यादा से ज्यादा। जहाँ ऊँच और नीच होता है वहाँ मध्यम होता ही है। नरक के जीवों की कम से कम स्थिति दस हजार वर्ष की है अर्थात् नरक में गया हुआ जीव कम से कम दस हजार वर्ष तक नरक में रहता है। और अधिक से अधिक तेतीस सागर की स्थिति है।

प्रश्न हो सकता है कि नरक किसे कहते हैं? इसका उत्तर व्युत्पत्ति के अनुसार यह है कि-जिनके पास से अच्छे फल देने वाले शुभ कर्म चले गये हैं, जो शुभ कर्मों से रहित हैं, उन्हें 'निरय' कहते हैं और 'निरय' में जो हों वह 'नैरयिक' कहलाते हैं।

जैसे, जिसके पास से सम्पत्ति चली जाती है उसे दरिद्र कहते हैं। जहाँ सम्पत्ति नहीं है वहाँ दरिद्रता होती ही है और दरिद्रता वाले को दरिद्र कहते हैं। यह गुण गुणी का भेद है। दरिद्रता गुण है और गुणी वह प्राणी है जो दरिद्र हो। इसी प्रकार जो सुख से अतीत है और पुण्य-फल से अप्र है उसे नैरयिक कहते हैं।

आयु कर्म के पुद्गलों के रहने की मर्यादा स्थिति कहलाती है। आत्मा रूपी दीपक में, आयु कर्म रूपी तेल के विद्यमान रहने की सामयिक मर्यादा का नाम स्थिति है।

जो जीव अशुभ कर्म बाँध कर नरक योनि में जाते हैं, वे वहाँ कम से कम दस हजार वर्ष अवश्य रहते हैं। कोई भी जाव दस हजार वर्ष से पहले नरक से लौट कर नहीं आ सकता। इसी प्रकार नरक में अधिक से अधिक तेतीस

सागरोपम तक जीव रहता है। कोई भी जीव तेतीस सागरोपम से अधिक समय तक नरक में नहीं रह सकता। यही नरक की जघन्य और उत्कृष्ट आयु कहलाती है।

सागरोपम किसे कहते हैं, यह जान लेना आवश्यक है। यह संख्या लोकोत्तर है। अंकों द्वारा उसे प्रकट नहीं किया जा सकता। अतः उसे समझाने का उपाय उपमा है। उपमा द्वारा ही उसकी कल्पना की जा सकती है। इसी कारण उसे उपमा-संख्या कहते हैं, और इसी कारण 'सागर' शब्द के बदले 'सागरोपम' शब्द का व्यवहार भी किया जाता है, सागरोपम का स्वरूप इस प्रकार है।

चार कोस लम्बा और चार कोस चौड़ा तथा चार कोस गहरा एक कुंआ हो। कुरु युगलिया के सात दिन के जन्मे बालक के बाल लिये जायें। युगलिया के बाल अपने बालों से ४०६६ गुने सूक्ष्म होते हैं। इन बालों के धारीक से धारीक टुकड़े-काजल की तरह किये जायें। चर्म-चक्षु से दिखाई देने वाले टुकड़ों से असंख्य गुने छोटे टुकड़े हों। अथवा सूर्य की किरणों में जो रज दिखाई देती है उससे असंख्य गुने छोटे हों। ऐसे टुकड़े करके उस कुंए में ठसाठस भर दिये जायें। सौ-सौ वर्ष व्यतीत होने पर एकर टुकड़ा निकाला जाय। इस प्रकार निकालते-निकालते जब वह कूप खाली हो जाय, तब एक पल्योपम होता है। ऐसे दस कोड़ाकोड़ी कूप जब खाली हो जायें तब एक सागरोपम होता है। एक करोड़ को एक करोड़ की संख्या से गुणा करने पर जो गुणन-फल आता है वह कोड़ाकोड़ी कहलाता है। ऐसे तेतीस सागरोपम की या ३३० कोड़ाकोड़ी पल्योपम की नरक की उत्कृष्ट स्थिति है। यह आत्मा ऐसी स्थिति में रह आया है।

नरक की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की है । जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति के बीच की समस्त स्थिति मध्यम स्थिति कहलाती है । दस हजार वर्ष से एक समय अधिक से लेकर तेतीस सागरोपम से एक समय कम तक की स्थिति मध्यम समझनी चाहिए ।

इसके पश्चात् गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं कि-भगवन् ! नरक के जाँव क्या श्वासोच्छ्वास भी लेते हैं ? भगवान् ने इस प्रश्न का उत्तर हाँ में दिया है । तब गौतम स्वामी पूछते हैं कि उनको श्वासोच्छ्वास कितने समय में होता है ? इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि परावर्ण सूत्र में इसका वर्णन किया है, वहाँ से जान लो ।

इस प्रश्नोत्तर में 'आणमंति' और 'प्राणमंति' शब्द आये हैं । इनका क्रमशः अर्थ है—श्वास लेना और छोड़ना । शरीर के भीतर हवा खींचने को आणमन या श्वास लेना कहते हैं और शरीर के बाहर हवा निकालने को प्राणमन या श्वास छोड़ना कहते हैं ।

किसी-किसी आचार्य के मत से श्वासोच्छ्वास दो प्रकार के होते हैं—एक आध्यात्मिक श्वासोच्छ्वास और दूसरा बाह्य श्वासोच्छ्वास । आध्यात्मिक श्वासोच्छ्वास को आणमन और प्राणमन कहते हैं और बाह्य को उच्छ्वास-निःश्वास कहते हैं ।

श्वास की क्रिया में समस्त योग का समावेश हो जाता है । जो महाप्राण पुरुष श्वासोच्छ्वास को समझ लेता है

और बाह्य श्वासोच्छ्वास को अभ्यन्तर कर लेता है अर्थात् श्वासोच्छ्वास पर अधिकार कर लेता है, उसके लिए कोई कार्य कठिन नहीं रह जाता। जो लोग अधिक उम्र तक जीते हैं, वे इसी क्रिया के प्रताप से। खाना-पीना आदि सब श्वास पर ही निर्भर है। अभी श्वास पर थोड़ा-सा काबू है। अगर इतना भी काबू न रहे तो शरीर में मल-मूत्र भी टिकना कठिन हो जाय। शरीर में मल मूत्र का न टिकना श्वास पर अधिकार न होने का फल है। कई लोगों को दम उठने लगता है, यह भी श्वास पर नियंत्रण न होने के कारण ही। आप लोग अपने को सुखी मानते हैं, लेकिन सारे सुख का आधार श्वास ही है। जिस समय श्वास पर से अधिकार उठ जाता है, उसी समय सारे सुख हवा में उड़ जाते हैं। श्वास की क्रिया बिगड़ने से आत्मा को कितनी असाता होती है, यह तो भुक्त-भोगी ही जान सकते हैं। वास्तव में साता-असाता श्वास पर ही निर्भर है। योगीजन बाह्य श्वासोच्छ्वास को अभ्यन्तर कर लेते हैं, अतः उन्हें न रोग होता है, न शोक होता है।

एक बार किसी समाचार पत्र में पढ़ा था कि अमेरिका में एक स्त्री अस्सी वर्ष की है, मगर दिखती वह तीस वर्ष की है। उसने श्वासोच्छ्वास की क्रिया की सुन्दर साधना की है। लोग बाह्य क्रियाओं की ओर दौड़ते हैं, परन्तु इस विषय में उदासीन रहते हैं। जो पुरुष अपने बाह्य श्वासोच्छ्वास को आध्यात्मिक श्वासोच्छ्वास में ले जाता है, उसे अपूर्व शक्ति और अद्भुत सुख की प्राप्ति होती है।

प्राणी किसी भी योनि में क्यों न हो, उसे श्वासोच्छ्वास अवश्य लेना पड़ता है। यह शरीर श्वासोच्छ्वास की क्रिया

पर ही टिका हुआ है। श्वासोच्छ्वास की क्रिया बंद हो जाने पर शरीर भी नहीं रहता।

गौतम स्वामी ने भगवान् से नारकी जीवों के श्वासोच्छ्वास के संबंध में प्रश्न किया है। प्रश्न के उत्तर में परावणा सूत्र का हवाला दे दिया गया है। मगर टीकाकार ने संक्षेप रूप से यह बतला दिया है कि परावणा सूत्र में प्रस्तुत विषय में क्या वर्णन किया गया है। इस सूत्र में भगवान् ने कहा है कि नारकी जीव सतत श्वासोच्छ्वास लेते रहते हैं।

जो अधिक दुखी होता है उसे अधिक श्वास आता है। श्वास ज्यादा आने लगा कि दुःख की मात्रा बढ़ी। श्वास अधिक आने पर कैसी घबराहट होती है, यह हम लोग संसार में देख सकते हैं। श्वास की बीमारी में जिसे श्वास चलता हो उससे पूछो। वह अपने दुःख का वर्णन नहीं कर सकेगा।

निरंतर श्वासोच्छ्वास क्यों आता है ? इसलिए कि जीव अति दुखी है।

प्रश्न हो सकता है कि सतत कहने से ही निरन्तर की प्रतीति हो गई थी, फिर भी 'सतत' पद क्यों कहा है * ? इसका उत्तर यह है कि अकेला सतत कहने से कुछ कमी रह

* परावणा सूत्र का पाठ इस प्रकार है:—

‘गोयमा ! सययं संतयामेव आरुमंति वा, पारुमंति वा,
ऊससंति वा, नीससंति वा ।’

जाती है, अतएव संतत पद और कहा है। उदाहरण के लिए—‘लोक में मनुष्य कहते हैं कि हम निरंतर भोजन करते हैं।’ यहां निरंतर पद का प्रयोग करने पर भी कोई मनुष्य प्रतिक्षण सदा नहीं खाता रहता। बीच में काफी समय रहता ही है। फिर भी रोज-रोज भोजन करने को निरन्तर, भोजन करना कह दिया जाता है। यहां श्वासोच्छ्वास के विषय में ऐसा न समझा जाय, इस अभिप्राय से संतत और संतत-दो निरंतरतावाचक शब्दों का प्रयोग किया गया है। इन दो शब्दों के प्रयोग से यह सूचित हो गया कि बीच में समय खाली नहीं रहता—नारकी जीवों की श्वासोच्छ्वास-क्रिया सदा-सर्वदा-प्रतिक्षण चालू रहती है।

आंख बन्द करके खोलने में भी असंख्य समय लगते हैं इस समय में भी नरक के जीवों का श्वासोच्छ्वास बराबर जारी रहता है। वह किसी भी समय बंद नहीं होता।

नरक के जीवों के श्वासोच्छ्वास का वर्णन करके यह दिखलाया गया है कि—‘हे प्राणी! समझ ले, पहले ही सावधान हो ले। देख, नरक के जीवों को कितना कष्ट होता है।’

नरक के दुःखों का वर्णन देखकर आत्मा सचेत हो जाय, इसीलिए श्री गौतम स्वामी ने नरक का वर्णन पूछा है और भगवान् ने नरक का वर्णन किया है। भगवान् महावीर ने नरक का वर्णन ही नहीं किया है, अपितु नरक को अपना पुराना घर बतलाया है। उन्होंने गौतम से कहा है कि—‘हे गौतम! मैं और तू-दोनों नरक में भी गये है और स्वर्ग में भी गये हैं। संसार की कोई योनि शेष नहीं, जिसमें संसारी जीव अनेक बार न भटक आया हो। असंख्य काल ऐसी

मित्रो ! गरीबों पर घृणा आना ही नरक है । संसार की ऐसी स्थिति हो रही है कि जो धन पैतृक है, उसकी अस्थिरता बैंकों के बंद होने से दिखाई दे रही है, फिर भी सुकृत नहीं सूझता । लक्ष्मी और जीवन की चपलता को जानते हुए भी लोगों के जीवन का एक मात्र साध्य धन बन रहा है ।

गौतम स्वामी ने श्वासोच्छ्वास के पश्चात् नारकी जीवों के आहार के विषय में प्रश्न किया है । इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् ने बतलाया है कि नरक के जीवों को भी आहार की इच्छा होती है । तत्पश्चात् गौतम स्वामी पूछते हैं—‘नरक के जीव आहार किस प्रकार लेते हैं ?’ भगवान् ने कहा—प्रज्ञापना सूत्र में आहार नामक अट्ठाइसवाँ पद है । उसके पहले उद्देशक में इस विषय का वर्णन किया गया है । उसमें नरक के जीवों के अतिरिक्त अन्यान्य जीवों के भी आहार का वर्णन किया गया है ।

साधारणतया विचार करने से यह समझ में नहीं आता कि ऐसे-ऐसे प्रश्नोत्तर करने से गौतम स्वामी और भगवान् महावीर ने क्या लाभ सोचा होगा ! उन्हें नरक के जीवों के आहार को जानने एवं बताने की क्या आवश्यकता थी ? लेकिन भगवान् ने नरक के जीवों के आहार के ४० द्वार बतलाये हैं । यह उन महान् पुरुष की असीम करुणा है । जिन जीवों के आहार का वर्णन किया है, उन्हें चाहे अपने आहार की बात इतनी स्पष्ट रूप से ज्ञात न हो, लेकिन ज्ञानियों की दृष्टि से वह छिपी नहीं है । उन्होंने अहं जनों को समझाने के लिए यह सब वर्णन किया है ।

प्रश्न—नारकी जीवों के आहार के संबंध में पराणवणा सूत्र का जहाँ उल्लेख किया गया है वहाँ पद का उल्लेख न करके सीधा आहारोद्देशक क्यों कहा गया है ? पहले पद बतलाना उचित था, फिर उसके साथ उद्देशक का कथन करना ठीक रहता ।

उत्तर—यहाँ पद-लोपी समास हुआ है । इस समास के कारण 'पद' शब्द का लोप हो गया है, तथापि 'पद' शब्द का अर्थ विद्यमान समझना चाहिए ।

पराणवणा सूत्र में आहार-विषयक जो वर्णन आया है, उसका सामान्य दिग्दर्शन शास्त्रकार ने निम्नलिखित गाथा में किया है:—

ठिई उस्सासाहारे, किं वाऽऽहारेंति सव्वओ वा वि ।
कातिभागं सव्वाणि व, कीस व भुज्जो परिणमंति ? ॥

इस संग्रह-गाथा में उन चालीस द्वारों का संक्षिप्त उल्लेख किया गया है ।

भगवान् ने गौतम स्वामी से कहा है कि नारकी जीव भी आहार के अर्थी हैं । 'यहाँ आहार के अर्थी' पद के दो अर्थ शास्त्रकारों ने किये हैं । जिसे आहार की इच्छा हो वह आहारार्थी कहलाता है, और आहार ही जिनका प्रयोजन हो वह भी आहारार्थी कहलाते हैं ।

गौतम स्वामी के प्रश्न और भगवान् महावीर के उत्तर से तत्त्व यह निकला कि निकृष्ट से निकृष्ट योनि में पड़े हुए

जीव को भी आहार की आवश्यकता पड़ती है। जहां शरीर है वहां आहार भी अनिवार्य है।

नरक दुर्गन्धमय है। वहां रक्त-पीव आदि घोर अशुचि पदार्थ भरे हुए हैं। वहां की भूमि इतनी वासजनक है कि उसका स्पर्श करते ही ऐसी वेदना होती है मानों एक साथ हजार विच्छुराओं ने काट खाया हो। ऐसी भूमि में रहने वाले नारकी जीव क्या आहार करते होंगे ? भगवान् से गौतम स्वामी ने इस अभिप्राय से यह प्रश्न पूछा है कि—नरक में और कोई वस्तु तो है नहीं; फिर क्या जो अशुचिमय वस्तु नरक में है, उसीको नारकी जीव खाने की इच्छा करता है ? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् कहते हैं—हाँ गौतम ! नरक के जीव खाने की इच्छा करते हैं। नारकी उस कनिष्ठ अवस्था में पड़े हुए हैं, और नरक में रक्त, पीव आदि वस्तुएँ ही हैं, तथापि वे इस आहार के लिए प्रार्थना करते हैं।

सुसंस्कारी पुरुष जिस वस्तु से घृणा करते हैं, उसी को संस्कार विहीन या नीच प्रकृति के लोग बड़े उत्साह से खाते-पीते हैं। यह बात प्रत्यक्ष देखी जाती है। जब मनुष्यलोक में ही इतना महान् रुचि-वैचित्र्य देखा जाता है, तो नरक का क्या पूछना है ? वहाँ के जीव निकृष्ट वस्तुओं के आहार की याचना करें, यह अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता।

मैं एक बार पनवेल गया था। वहाँ जब जंगल जाता तो जिन मच्छियों को मार कर सुखाया गया था, उनकी बड़ी दुर्गन्ध आती थी। दुर्गन्ध इतनी उग्र थी कि खड़ा रहना कठिन होता था। उन मच्छियों में से वाम नाम की मच्छी तो और भी अधिक बदबू देती थी। मैंने सोचा—जिन मच्छियों

से ऐसी असह्य दुर्गन्ध निकलती है, उन्हें भी लोग बड़े चाव से खा जाते हैं । वह वाम मछली जो अतिशय बदबूदार होती है, उसके विषय में लोगों का कहना है कि खाने वाले लोग वाम मछली को ऐसी कूची से खाते हैं, जैसे दूसरे लोग मिठाई खाते हैं । इस प्रकार मनुष्य प्राणी भी उस चीज को रुचिपूर्वक पेट में डाल लेते हैं, जिसके पास खड़ा भी नहीं रहा जाता । गांधीजी ने एक पुस्तक में तो यहां तक लिखा है कि किसी देश के निवासी विद्या भी खा जाते हैं ।

जब मनुष्य अनेक प्रकार के उत्तम एवं स्वादिष्ट भोज्य पदार्थों के रहते भी ऐसी-ऐसी घृणास्पद नीच वस्तुएँ खा जाते हैं और उसमें सुख का अनुभव करते हैं तो नरक के जीवों का, भूख के असह्य दुःख से व्याकुल हो जाने पर अशुचिमय पदार्थों को खाने में सुख मानना आश्चर्यजनक नहीं कहा जा सकता । लेकिन ज्ञानी जन कहते हैं कि मान लेने से ही सुख नहीं हो जाता । इस प्रकार माना हुआ सुख वस्तुतः दुःख रूप है । जीव सुख की भ्रान्ति से ही बाह्य भोजन की इच्छा करता है; लेकिन वास्तविक सुख वह है जिसमें बाह्य भोजन की आकांक्षा ही न हो; यही नहीं वरन् किसी भी पर-पदार्थ के संयोग की इच्छा न रह जाय । तभी सच्चा सुख प्राप्त होता है ।

भगवान् ने गौतम स्वामी से कहा कि नरक के जीवों के आहार के संबंध में परणवणा सूत्र के २८वें पद में जो वर्णन किया है, वही वर्णन यहाँ भी समझ लेना चाहिए ।

परणवणा सूत्र में नरक आदि के जीवों का आहार-वर्णन छोटे-छोटे हिस्सों में किया गया है । उन हिस्सों को

द्वार कहते हैं। उन द्वारों में नरक के जीवों के आहार के साथ दूसरे जीवों का आहार भी बतलाया गया है। तथा आहार-विषयक और-और बातें भी उसमें बतलाई गई हैं। यहां नारकी जीवों के आहार के विषय में ही परणवणा के अनुसार दिग्दर्शन कराया जाता है।

परणवणासूत्र में गौतम स्वामी, भगवान् महावीर से प्रश्न करते हैं कि-हे भगवन् ! अगर नारकी जीव आहारार्थी हैं तो कितने समय में उन्हें आहार की इच्छा होती है ? अर्थात् एक बार आहार कर लेने के पश्चात् कितने समय बाद उन्हें आहार की अभिलाषा होती है ?

इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् फरमाते हैं-हे गौतम ! नरक के जीवों का आहार दो प्रकार का है-(१) आयोगनिर्वर्त्तित और (२) अनाभोगनिर्वर्त्तित। खाने की बुद्धि से जो आहार किया जाता है वह आभोगनिर्वर्त्तित आहार कहलाता है और आहार की इच्छा न होने पर भी जो आहार होता है वह अनाभोगनिर्वर्त्तित आहार कहलाता है।

यहां आहार का प्रकरण होने से आहार के विषय में ही यह कहा गया है कि इच्छा न होने पर भी आहार होता है। मगर यह कथन अन्य क्रियाओं के संबंध में भी लागू होता है। इच्छा के बिना अन्यान्य कार्य भी प्रकृति के नियमानुसार होते रहते हैं। छद्मस्थ-अवस्था जब तक बनी हुई है, या जब तक यह स्थूल शरीर विद्यमान है, तब तक अनाभोग पूर्वक कार्य होते रहते हैं। इन कार्यों में कुछ अनजान में होते हैं और कुछ जानकारी में होते हैं। हाँ, अपनी इच्छाओं को नियंत्रित करते रहने से और अच्छे कार्यों में निरंतर संलग्न रहने से अनाभोग-आहार कम अवश्य हो सकता है।

प्रश्न—अनाभोग आहार अर्थात् अनजान में, इच्छा न होते हुए भी होने वाला आहार कैसे संभव है ?

उत्तर—मनुष्य यह नहीं चाहता कि मेरे शरीर पर रज लगे या मेरे भोजन में गंदगी आवे; लेकिन जब आँधी चलती है तो शरीर पर रज लग ही जाती है और भोजन में भी आ जाती है। जब कोई बीमारी फैलती है, तब डाक्टर कहते हैं—‘खान-पान में सावधान रहो, गंदगी मत होने दो और दूसरे खराब परमाणुओं को अपने शरीर में प्रवेश मत होने दो’। यद्यपि डाक्टर को रोग मिटाना अभीष्ट है लेकिन वह गंदगी से बचने की बात कहता है। इससे यह स्पष्ट है कि शरीर में गंदगी जाती है। ऐसा न होता तो डाक्टर को मनाई करने की क्या आवश्यकता होती ?

यद्यपि गंदगी खाने की इच्छा कोई करता नहीं है, तथापि किसी न किसी कारण से गंदगी खाने में आ ही जाती है। इसी प्रकार इच्छा न होने पर भी, शरीर के आसपास घूमने वाले परमाणु आहार में आ जाते हैं।

इसी आधार पर अन्यान्य क्रियाओं पर विचार करने से प्रतीत होगा कि किस प्रकार इच्छा के अभाव में भी अनेक कार्य होते रहते हैं।

गौतम स्वामी का मूल प्रश्न है—आहार के समय की मर्यादा का; पर भगवान् ने फरमाया—आहार दो प्रकार का होता है। इन दोनों प्रकार के आहारों में से अनाभोग-आहार तो निरंतर-प्रतिक्षण होता रहता है। एक समय भी ऐसा च्यतीत नहीं होता, जब यह आहार न होता हो। यह आहार

बुद्धि पूर्वक-संकल्प द्वारा नहीं रोका जा सकता । दूसरा इच्छापूर्वक जो आहार होता है, उसकी इच्छा कम से कम असंख्यात समय में होती है ।

प्रश्न—असंख्यात समय कहने से काल की कोई निश्चित मर्यादा नहीं प्रतीत होती । एक उत्सर्पिणी या अवसर्पिणी काल में भी असंख्यात समय होते हैं और आँख बंद कर खोलने में भी असंख्यात समय होते हैं । ऐसी अनिश्चित संख्या बतलाने से क्या समझना चाहिए ?

उत्तर—यहां असंख्यात समय एक अन्तर्मुहूर्त प्रमाण लेना चाहिए । अर्थात् नारकी जीवों को अन्तर्मुहूर्त में आभोग निर्वाचित आहार की इच्छा होती है ।

एक दिन-रात में ३० मुहूर्त होते हैं । मुहूर्त-प्रमाण समय में कुछ कम समय को अन्तर्मुहूर्त कहते हैं । अन्तर्मुहूर्त में असंख्यात समय होते हैं । इस असंख्यात समय वाले अन्तर्मुहूर्त के भी असंख्य भेद हैं । किसी अन्तर्मुहूर्त में थोड़ा समय होता है, किसी में ज्यादा होता है । लेकिन असंख्यात समय, अन्तर्मुहूर्त के सिवाय दूसरे को नहीं कहा जा सकता ।

प्रश्न—नारकी जीवों को अन्तर्मुहूर्त में आहार की इच्छा होती है तो क्या इतनी देर तक उनकी भूख मिटी रहती है ? इतनी देर तक वह तृप्त रहते हैं ?

उत्तर—ऐसा नहीं है । छद्मस्थ को एक इच्छा के बाद जब दूसरी इच्छा होती है तो उसमें असंख्यात समय लग ही जाते हैं । 'क' अक्षर का उच्चारण करने के बाद 'ख' का उच्चारण

करने की इच्छा होने में ही असंख्यात समय बीत जाते हैं। इस नियम के अनुसार यद्यपि नारकी जीवों को कभी तृप्ति नहीं होती, फिर भी एकवार इच्छा करने बाद दूसरी बार इच्छा करने में ही असंख्य समय लग जाते हैं।

नरक के जीव मवाद-मांस आदि पुद्गलों का आहार करते हैं। जब वे आहार करते हैं तब भी उनकी भूख नहीं मिटती—उन्हें तृप्ति नहीं होती; किन्तु फिर खाने की इच्छा होने में असंख्यात समय लग जाते हैं। शास्त्रकारों ने नारकी जीवों की भूख मिट जाने की बात नहीं कही है; किन्तु यह कहा है कि उन्हें असंख्यात समय में भोजन की इच्छा होती है। यह सिर्फ इस अभिप्राय से कहा है कि एक इच्छा के पश्चात् तत्काल ही दूसरी इच्छा होने में असंख्यात समय लग जाते हैं।

अब प्रश्न यह है कि अगर नारकी जीव आहार करते हैं तो किस वस्तु का आहार करते हैं।

यह पंचम द्वार का प्रश्न है। इस प्रश्न का उत्तर भगवान् ने फरमाया है—हे गौतम ! नरक के जीव द्रव्य की अपेक्षा अनन्त प्रदेश वाले पुद्गलों का आहार करते हैं। पुद्गल का सबसे छोटा अविभाज्य अंश—जो खुला रहता है अर्थात् विलकुल अलग होता है, परमाणु कहलाता है। और वही अंश जब जुड़ा रहता है तो प्रदेश कहलाता है। जो पुद्गल अनन्तप्रदेशी होकर भी सूक्ष्मस्कंध रूप होता है वह आकाश के एक प्रदेश में समा सकता है। यहां ऐसे सूक्ष्मस्कंध से अभिप्राय नहीं है। किन्तु चादर अनन्त प्रदेशी स्कंध से तात्पर्य समझना चाहिये।

नारकी जीव काल की अपेक्षा जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट स्थिति वाले पुद्गलों में से किन्हीं भी पुद्गलों का आहार करते हैं ।

नारकी जीव भाव की अपेक्षा वर्ण वाले, गंध वाले, रस वाले और स्पर्श वाले पुद्गलों का आहार करते हैं ।

गौतम स्वामी फिर प्रश्न करते हैं—भगवन् ! नारकी वर्ण वाले पुद्गलों का आहार करते हैं तो एक ही वर्ण के पुद्गलों का आहार करते हैं या पंच वर्ण वाले पुद्गलों का आहार करते हैं ?

इस प्रश्न का उत्तर भगवान् ने फेरमाया है—हे गौतम ! नारकी पाँचों वर्ण वाले पुद्गलों का आहार करते हैं । इस प्रश्न के उत्तर में सामान्य और विशेष की विवक्षा की गई है । सामान्य को स्थानगमन भी कहते हैं और विशेष का विधानगमन नाम भी है । स्थानगमन अर्थात् सामान्य की अपेक्षा एक वर्ण वाले पुद्गल का भी आहार करते हैं और दो वर्ण वाले पुद्गल का भी आहार करते हैं । विधानगमन अर्थात् विशेष की अपेक्षा से अशेष-पाँचों प्रकार के पुद्गलों का आहार करते हैं ।

गौतम स्वामी फिर प्रश्न करते हैं—‘भगवन् ! आपने काले पुद्गल का आहार करना कहा है तो नारकी जीव एक गुण काले पुद्गल का आहार करते हैं, या दस गुण काले पुद्गल का आहार करते हैं, या संख्यात, असंख्यात अनन्त गुण काले पुद्गल का आहार करते हैं’ ?

भगवान् ने उत्तर दिया—गौतम ! निश्चय में कोई एक गुण काला होता है, कोई दो गुण काला होता है, कोई दस गुण

काला, कोई असंख्यात गुण काला, कोई अनन्त गुण काला होता है। नारकी जीवों के आहार में एक गुण काले पुद्गल भी होते हैं, दसगुण काले भी और असंख्यात तथा अनन्त गुण काले भी होते हैं।

यहां काले पुद्गलों के संबंध में जो कथन किया गया है, वही अन्य वर्ण वाले पुद्गलों के विषय में तथा रस एवं गंध आदि के विषय में भी समझ लेना चाहिए। यहां तक अठारह द्वार पूर्ण हो जाते हैं।

इसके अनन्तर गौतम स्वामी ने स्पर्श की अपेक्षा प्रश्न किया है। उत्तर में भगवान् ने फरमाया है—एक स्पर्श वाले, दो स्पर्श वाले और तीन स्पर्श वाले पुद्गलों का नारकी जीव आहार नहीं करते। कारण यह है कि एक स्पर्श वाले पुद्गलों का आहार करना असंभव है और दो तथा तीन स्पर्श वाले पुद्गल अल्प प्रदेशी और सूक्ष्म परिणमन वाले होने के कारण ग्रहण के योग्य नहीं हैं। अतएव चार स्पर्श वाले पुद्गलों से लगाकर आठ स्पर्श वाले पुद्गलों तक का आहार करते हैं। यह पुद्गल बहुप्रदेशी और वादरपरिमाण वाले होने से ग्रहण करने योग्य होते हैं।

प्रश्न हो सकता है कि एक गुण काला और अनन्तगुण काला कहने का क्या अभिप्राय है? इसका उत्तर यह है कि 'गुण' शब्द से यहाँ डिगरी या अंश अर्थ समझना चाहिए। उदाहरणार्थ—किसी वस्त्र को काला रंगने के लिए एकवार काले रंग में डुबोया। एकवार डुबोने से वस्त्र में एकगुण (अंश-डिगरी) कालापन आया। इस वस्त्र को एक गुण काला कहेंगे। इसी प्रकार असंख्यात बार डुबोया तो वह असंख्यात गुण काला

कहलायगा । असंख्यात गुण काला हमें प्रतीत नहीं होता । उसे विशिष्ट ज्ञानी ही जान पाते हैं ।

इस प्रकार का सूक्ष्म वस्तु-तत्त्व-निरूपण जैन शास्त्रों में ही पाया जाता है, अन्यत्र कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता । इसका कारण यह है कि जिसने जाना-देखा, उसने वर्णन किया । जिसने जाना-देखा ही नहीं, वह वर्णन कैसे कर सकता है ?

गौतम स्वामी ने प्रश्न किया—भगवान् ! नारकी एक गुण खुरदरे पुद्गल का आहार करते हैं, या असंख्यातगुण खुरदरे का अथवा अनन्त गुण खुरदरे पुद्गल का ?

भगवान् ने फरमाया—गौतम ! सभी प्रकार के खुरदरे पुद्गल का आहार करते हैं ।

आहार के विषय में यह बीस प्रश्न हुए । स्पर्श आठ हैं उनमें से एक स्पर्श के विषय में प्रश्न और उत्तर है । शेष सात स्पर्शों के विषय में भी इसी प्रकार समझना चाहिए । अतः कुल सत्ताईस प्रश्न और सत्ताईस उत्तर हुए ।

गौतम स्वामी—भगवान् ! नारकी जीव स्पर्श किये जा सकने वाले-छूने में आ सकने योग्य-पुद्गलों का आहार करते हैं या स्पर्श न किये जा सकने योग्य पुद्गलों का ?

भगवान्—गौतम ! स्पर्श किये जा सकने योग्य पुद्गलों का ही आहार करते हैं । जो पुद्गल छुए नहीं जा सकते, उनका आहार नहीं करते ।

स्पष्ट पुद्गल दो प्रकार के होते हैं—अवगाढ़ अर्थात् जिन प्रदेशों में आत्मा हो उन्हीं प्रदेशों में रहे हुए पुद्गल, और अनवगाढ़ अर्थात् भिन्न प्रदेशों में रहे हुए पुद्गल । इन दो प्रकार के पुद्गलों में से नारकी जीव किस प्रकार के पुद्गलों का आहार करते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि नारकी जीव अवगाढ़ पुद्गलों का आहार करते हैं, अनवगाढ़ का नहीं । तात्पर्य यह है कि जो पुद्गल शरीर के संवध में तो आये, लेकिन आत्मा के साथ एकमेक नहीं हुए, उनका आहार नहीं किया जा सकता ।

गौतम स्वामी—भगवन् ! नारकी जीव अगर अवगाढ़ पुद्गलों का आहार करते हैं तो साक्षात् अवगाढ़ पुद्गलों का आहार करते हैं या परम्परा अवगाढ़ पुद्गलों का ?

भगवान्—हे गौतम ! साक्षात् अवगाढ़ पुद्गलों का आहार करते हैं, परम्परा-अवगाढ़ पुद्गलों का नहीं ।

गौतम स्वामी—भगवन् ! क्षेत्र से साक्षात् अवगाढ़ पुद्गलों का आहार करते हैं या काल से साक्षात् अवगाढ़ पुद्गलों का ?

भगवान् महावीर—दोनों से ।

गौतम—भगवान् ! नारकी जीव अगर साक्षात् अवगाढ़ पुद्गलों का आहार करते हैं, परम्परा-अवगाढ़ पुद्गलों का नहीं करते; तो वे छोटे पुद्गलों का आहार करते हैं या बड़े पुद्गलों का ?

भगवान्—छोटे पुद्गलों का भी और बड़े पुद्गलों का भी ।

यहाँ आशंका की जा सकती है कि छोटे और बड़े पुद्गल से क्या तात्पर्य समझना चाहिए? छोटापन और बड़ापन, सापेक्ष हैं। यह बड़ा है और यह छोटा है, यह नियत नहीं है। जो किसी अपेक्षा छोटा है, वही दूसरी अपेक्षा से बड़ा होता है और जो एक अपेक्षा से बड़ा है, वह दूसरी अपेक्षा से छोटा भी होता है। इस प्रकार छोटापन और बड़ापन सापेक्ष है अतएव अनियत है।

नरक के जीव जिन पुद्गलों का आहार करते हैं, उनमें से कोई एक पुद्गल अगर दूसरे से एक प्रदेश भी बड़ा है तो वह बड़ा कहलायगा जो अधिक प्रदेश बड़ा है वह भी बड़ा कहलायगा और वह उस बड़े से भी बड़ा कहलायगा, मगर इस अधिक बड़े की अपेक्षा वह बड़ा भी छोटा कहा जा सकता है। पहली जँगली, दूसरी की अपेक्षा छोटी है। दूसरी बड़ी है। मगर तीसरी की अपेक्षा यह दूसरी भी छोटी है। यही बात प्रत्येक वस्तु के विषय में समझी जा सकती है।

गौतम स्वामी-भगवन् ! नरक के जीव जिन छोटे-बड़े पुद्गलों का आहार करते हैं, वे ऊँची दिशा से आये हुए होते हैं, नीची दिशा से आये हुए होते हैं, या तिरछी दिशा से आये हुए होते हैं ?

भगवान्-गौतम ! नरक के जीव तीनों दिशाओं से आये पुद्गलों का आहार करते हैं।

यहाँ गौतम स्वामी ने तीन ही दिशाओं को लेकर प्रश्न किया है। ऊर्ध्व-दिशा और अधो-दिशा तो है ही, तिरछी दिशा में चारों ही दिशाओं का समावेश हो जाता है।

सूर्य जिस ओर से निकलता है, उस ओर मुँह करके खड़ा होने से मुँह के सामने की दिशा पूर्व दिशा होगी। दाहिने हाथ की तरफ दक्षिण दिशा, बायें हाथ की ओर उत्तर दिशा और पीठ की तरफ पश्चिम दिशा होगी। ऊपर की ओर ऊर्ध्व दिशा और नीचे की तरफ अधोदिशा कहलाएगी। यह दिशाएँ मेरु के हिसाब से नहीं हैं, किन्तु अपने हिसाब से हैं। गौतम स्वामी ने जिन तीन दिशाओं को लेकर प्रश्न किया है, वे नरक की अपेक्षा हैं।

गौतम-भगवन् ! अगर नरक के जीव तीनों दिशाओं के पुद्गलों का आहार करते हैं तो आदि समय में आहार करते हैं, मध्य समय में आहार करते हैं या अन्त समय में आहार करते हैं।

भगवान्-हे गौतम ! तीनों समयों में आहार करते हैं। अर्थात् आभोगनिर्वर्त्तित आहार को आदि समय में भी ग्रहण करते हैं, मध्य समय में और अन्तिम समय में भी ग्रहण करते हैं।

यहां यह शंका हो सकती है कि पहले यह कहा जा चुका है कि नारकी अनन्तर अवगाढ़ पुद्गलों का आहार नहीं करते। मगर यहां आदि समय में आहार करना कहा है-यह अनन्तर अवगाढ़ हो जाता है। ऐसी स्थिति में पूर्वापर-विरोध दोष आता है। इस शंका का समाधान यह है कि दोनों कथनों में विरोध नहीं है। पूर्व कथन ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा से है और यह कथन व्यवहारनय से किया गया है। अनाभोगनिर्वर्त्तित आहार का तो यहाँ प्रकरण ही नहीं है, आभो-

गतिर्वर्त्तित आहार का प्रकरण है । आभोगानिर्वर्त्तित आहार के अन्तर्मुहूर्त्त में तीन भाग करने चाहिए । यह तीन भाग आदि, मध्य और अन्त के होंगे । आहार के भाग न करके काल के भाग करने चाहिए और काल के साथ आने वाले आहार को आदि, मध्य और अवसान का समझो । इस प्रकार समझने से तनिक भी विरोध न होगा । ऋजु-सूत्रनय यही कहेगा कि आदि का ही आहार करना है, क्योंकि उसके हिसाब से जो काम में आ रहा है वह आदि ही है । किन्तु व्यवहारनय के मत से तीनों ही समयों में आहार कहलाएगा । जैन शास्त्र किसी भी एक नय को स्वीकार न करके सभी नयों को स्वीकार करता है । यहाँ तक तेतीस द्वारों का वर्णन हुआ ।

गौतम स्वामी-भगवन् ! जो आदि, मध्य और अन्त समय में आहार करता है वह स्वविषय में आहार करता है या अ-स्वविषय में आहार करता है ?

भगवान् महावीर--हे गौतम ! स्वविषय में आहार करता है, अस्वविषय में नहीं करता ।

स्वविषय क्या है ? और अस्वविषय किसे कहते हैं ? इसका उत्तर यह है कि अपना स्पृष्ट, अवगाढ और अनन्तरावगाढ रूप विषय, स्वविषय कहलाता है अर्थात् ऐसे पुद्गलों का आहार करना स्वविषय कहलाता है और इससे विपरीत अस्वविषय कहलाता है ।

गौतम स्वामी-भगवन् ! स्वविषय में जिन पुद्गलों का आहार नारकी करते हैं, वह आनुपूर्वी से या विना ही आनुपूर्वी से ? अर्थात् क्रम से या अक्रम से ?

पाँच ऊँगलियों में से क्रम पूर्वक एक के पश्चात् दूसरी का ग्रहण करना आनुपूर्वी से ग्रहण करना कहलाता है और बीच में की किसी ऊँगली को छोड़कर आगे वाली को ग्रहण करना बिना आनुपूर्वी के ग्रहण करना कहलाता है।

भगवान्—हे गौतम ! आनुपूर्वी—क्रम से पुद्गलों को ग्रहण करते हैं, अनानुपूर्वी से नहीं।

गौतम स्वामी—भगवन् ! नारकी जीव आनुपूर्वी से पुद्गलों का आहार करते हैं तो किस दिशा के पुद्गलों का आहार करते हैं ? पूर्व आदि में से किसी एक दिशा में स्थित पुद्गलों का या छहों दिशाओं में स्थित पुद्गलों का ?

भगवान्—नियम से छहों दिशाओं में स्थित पुद्गलों का आहार करते हैं।

इस प्रश्नोत्तर को किंचित् स्पष्ट करने की आवश्यकता है। नरक के जीव चौदह राजू लोक के मध्यवर्त्ती हैं और मध्यवर्त्ती होने से छहों दिशाएँ लगती हैं। त्रसनाड़ी के बाहर के जीव के आहार की तीन, चार, पाँच या छह दिशाएँ भी होती हैं। पृथ्वीकाय का जीव, लोक के कोने में जाकर आहार करता है तो तीन दिशाओं का आहार करता है। इसी प्रकार दो तरफ अलोक और चार तरफ लोक हो तो चार दिशाओं के पुद्गलों का आहार होता है। पाँच ओर लोक हो तो पाँच दिशाओं के पुद्गलों का और मध्य में छहों दिशाओं के पुद्गलों का आहार हो जाता है।

पहले वर्ण का साधारण वर्णन किया जा चुका है। यहां उसके अवान्तर भेद बतलाये जाते हैं।

भगवान् कहते हैं—हे गौतम! यह आहार का समुच्चय वर्णन किया गया है। अब नरक योनि और असुर-योनि के जीवों के आहार का अन्तर बतलाते हैं। नरक के जीव जो आहार करते हैं वह वर्ण से काला और नीला होता है। गंध से दुर्गन्ध युक्त होता है। रस से तिक्त और कटुक होता है। स्पर्श की अपेक्षा भारी, खुरदरा, शीत और रूखा होता है।

निश्चय में यद्यपि पाँचों वर्ण विद्यमान हैं, तथापि व्यवहार में काले और नीले वर्ण का आहार करते हैं। इसी प्रकार अन्यत्र समझना चाहिए। यहां जो वर्ण, रस, गंध और स्पर्श बतलाये गये हैं, वह सब अशुभ समझना चाहिए।

नरक के जीवों के आहार में भेद भी है। पहले नरक के जीव जिस प्रकार का आहार करते हैं, दूसरे नरक वाले दूसरी ही तरह का करते हैं। इसी तरह आगे के नरकों का समझ लेना चाहिए।

साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए कि नरक के आहार का यहां जो वर्णन किया गया है, वह मिथ्या दृष्टि की अपेक्षा है। भावी तीर्थंकर की अपेक्षा यह वर्णन नहीं है।

नरक का जो वर्णन उपर किया गया है, वह यद्यपि सत्य है; तथापि यह भी सत्य है कि जब उपादान अच्छा

होता है तो बुराई में से भी अच्छाई निकल आती है । भावी तीर्थंकर पहले से लेकर तीसरे नरक तक रह सकते हैं और चरम शरीरी अर्थात् पहले ही मनुष्य भव में मोक्ष जाने वाले जीव चौथे नरक में भी रहते हैं । लेकिन भावी तीर्थंकर का, तीर्थंकर गोत्र का आयुष्य नरक में ही वैधता है तो वे उत्कृष्ट से उत्कृष्ट आहार-पुद्गल खींचते हैं । यद्यपि उत्कृष्ट आहार-पुद्गल उनके लिए बाहर से वहां नहीं पहुँचते हैं, लेकिन नरक योनि के पुद्गलों में से ही वे ऐसे उत्तम पुद्गल ग्रहण करते हैं, जिनसे उनका दिव्य शरीर बनेगा ।

भावी तीर्थंकरों ने तीर्थंकर गोत्र की जो सामग्री मनुष्य जन्म में बाँधी उसके साथ ही दूसरे नरक की भी-सामग्री उपार्जित की । नरक की इस सामग्री से ही वे नरक गये हैं । उनका तीर्थंकर गोत्र का आयुष्य नरक में ही वैधगा ।

नरक के जीव जिन पुद्गलों का आहार करते हैं, वह अशुभ और घृणित होते हैं; लेकिन सम्यग्दृष्टि और भावी तीर्थंकर अशुभ में से भी शुभ को खींचकर आहार करते हैं । अशुभ पुद्गलों में शुभ पुद्गल उसी प्रकार विद्यमान रहते हैं, जैसे मालवा की काली मिट्टी में हिंगलु के समान लाल जानवर रहते हैं । मिट्टी तो काली और खुरदरी होती है मगर उसमें वह जानवर लाल और मुलायम होता है । तात्पर्य यह है कि उपादान अगर समर्थ हो तो वह अशुभ में से भी शुभ को खींच लेता है ।

दुर्गन्ध वाला विषा खेतों में पड़ता है, मगर उससे होने वाला गुलाब दुर्गन्ध वाला नहीं, सुगन्ध वाला होता है ।

प्रकृति से प्रत्येक पदार्थ, दूसरे की ओर खिंचता है, मगर जिसमें बल होता है वह खींच लेता है ।

गुलिशतौ में एक कहानी है । एक बार बादशाह के हमामखाने में मिट्टी आई । उस मिट्टी में खुशबू आ रही थी । पूछताछ करने पर पता लगा कि इस मिट्टी पर सुगंधित फूल खिले थे और वे सूख कर इस पर गिरे । यह खुशबू उन्हीं से आई है । बादशाह ने उन फूलों को भी मँगवाया । उन फूलों में फूलों की ही खुशबू थी, मिट्टी की नहीं थी ।

इससे प्रकट हुआ कि मिट्टी ने फूलों की खुशबू खींच ली, लेकिन फूलों ने मिट्टी की गंध अपने में नहीं आने दी ।

तीर्थंकरों को नरक में भी तीन शुभ लेश्याएँ होती हैं । वे शुभ लेश्याएँ ग्रहण कर शुभ बनते हैं ।

यहाँ तक छत्तीस द्वारों का वर्णन हुआ । इनमें नरक के जीवों के आहार का विचार किया गया है ।

आत्मा में यह शक्ति है कि वह आहार-पुद्गलों को, आहार के योग्य गुण में परिणत कर लेता है । उदाहरणार्थ—दूध यदि पेट में जाकर दूध ही बना रहा तो वह आहार नहीं हुआ । आहार वह तब कहलाएगा, जब उसका रस, रक्त, मज्जा आदि बन जाय । इसी प्रकार आत्मा अपने शरीर में आहार के लिए पुद्गलों को ग्रहण करता है, फिर उन्हें आहार के रूप में परिणत करता है । आत्मा समस्त आत्मप्रदेशों से आहार करता है, एकही आत्मप्रदेश से आहार नहीं करता । जिस आत्मा में जितनी और जैसी शक्ति होगी, वह पुद्गलों को वैसे ही आहार के रूप में परिणत कर सकेगा ।

ऊपर जो संग्रह-गाथा लिखी गई थी, उसके पूर्वार्ध में विद्यमान 'किं वाऽहारेंति' इस पद की व्याख्या यहां तक की गई है। इस पद के आगे 'सर्वत्र' पद आया है। अब उसकी व्याख्या की जाती है।

टीकाकार के कथनानुसार 'सर्वत्र' पद की व्याख्या के लिए निम्न लिखित पाठ का उच्चारण करना आवश्यक है:-

नेरइया एं भंते ! सर्वत्र आहारेंति,
सर्वत्र परिणामेंति, सर्वत्र ऊससंति, सर्वत्र
नीससंति; अभिक्खणं आहारेंति, अभिक्खणं
परिणामेंति, अभिक्खणं ऊससंति, अभिक्खणं
नीससंति, आहच्च आहारेंति ?

हंता गोयमा ! नेरइया सर्वत्र आहारेंति ।

अर्थ-भगवन् ! नारकी जीव समस्त आत्म-प्रदेशों से आहार करते हैं, समस्त आत्म-प्रदेशों से परिणामाते हैं, समस्त आत्म-प्रदेशों से उच्छ्वास लेते हैं, समस्त आत्म-प्रदेशों से निःश्वास लेते हैं ? निरन्तर आहार करते हैं, निरन्तर परिणामाते हैं, निरन्तर उच्छ्वास लेते हैं, निरन्तर निःश्वास छोड़ते हैं ? या कदाचित् आहार करते हैं ? (कदाचित् परिणामाते हैं, कदाचित् उच्छ्वास लेते हैं और कदाचित् निःश्वास छोड़ते हैं ?)

हां, गौतम ! नारकी जीव समस्त आत्म-प्रदेशों से आहार करते हैं (इत्यादि) ।

समस्त आत्म-प्रदेशों से आहार करते हैं, इसका अर्थ यह है कि जैसे घी की कड़ाई में पूरी छोड़ने पर वह सभी ओर से अपने में घृत को खींचती है, इसी प्रकार जीव सभी ओर से—सभी प्रदेशों से—आहार खींचता है ।

वाह्य रूप से पुद्गल को खींचना आहार नहीं कहलाता वरन् शरीर और गुहीत पुद्गलों को एक रूप बना देना, सर्वप्रदेश आहार कहलाता है ।

आहार, रस परिणामन करता है । वह रस-परिणामन सभी प्रदेशों में होता है । आहार और कर्मग्रन्थ-दोनों के विषय में यह कथन लागू पड़ता है । तात्पर्य यह है कि जीव सब ओर से आहार कर सब प्रदेशों में परिणामाता है ।

इसी प्रकार सब प्रदेशों से उच्छ्वास लेता है, सब प्रदेशों से निःश्वास निकालता है ।

सर्व साधारण मनुष्य जो श्वासोच्छ्वास लेते हैं तो उन्हें ऐसा मालूम होता है मानों पेट में श्वास लेते हैं और पेट से ही उच्छ्वास निकालते हैं । लेकिन श्वास वास्तव में सभी प्रदेशों से आता जाता है । इस ओर पूर्ण ध्यान दिया जाय तो नाड़ी की गति से यह बात समझी जा सकती है ।

भगवान् फरमाते हैं—हे गौतम ! जीव निरन्तर भी आहार करता है और कदाचित् भी आहार करता है । इसी प्रकार परिणामन, श्वास और उच्छ्वास के संबंध में जानना

चाहिए । पर्याप्त अवस्था होने पर निरन्तर आहार करता है, निरन्तर परिणामात्ता है, निरन्तर श्वासोच्छ्वास लेता है, परन्तु अपर्याप्त अवस्था में कदाचित् आहार आदि करता है । जब विग्रह गति को प्राप्त होता है तब आहार आदि नहीं ग्रहण करता, परन्तु अविग्रह-गति में ग्रहण करता है ।

आगे गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं कि—भगवन् ! जिन पुद्गलों को आहार रूप में ग्रहण किया है, उनमें से नरक के जीव कितने भाग का आहार करते हैं और कितने भाग का आस्वाद करते हैं ।

भगवान् ने उत्तर दिया—गौतम ! असंख्यात भाग का आहार करते हैं और अनन्त भाग का आस्वाद करते हैं ।

इस प्रश्न के मूल पाठ में 'सेयालंसि *' प्राकृत भाषा का पद आया है । इसका संस्कृत रूप 'एष्यति' (भविष्यति) है । तात्पर्य यह है कि गृहीत आहार-पुद्गलों में से ग्रहण करने के पश्चात् कितने भाग का आहार करते हैं और कितने भाग का आस्वादन करते हैं ?

असंख्यात भाग का आहार करते हैं, इस पद की व्याख्या भिन्न-भिन्न आचार्यों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से की है । एक आचार्य का यह मत है कि जैसे गाय पहले घास में मुँह

* मूल पाठ इस प्रकार है:—

नेरइया रां भंते ! जे पोंगले आहारत्ताए गिण्हंति, ते रां तेसिं पोंगलरां सेयालंसि कइभागं आहारेंति, कइभागं आसायंति ? गोयमा ! असंखेजइभागं आहारेंति, अणंतभागं आसाइंति ।—पण्णवणा सुत्त ।

भर लेती है, पर उसमें से बहुत-सा भाग नीचे गिर जाता है और कुछ वह खाती है। इसी प्रकार नरक के जीव पहले-पहल आहार के जो पुद्गल खींचते हैं, उन खींचे हुए पुद्गलों का बहुतसा भाग गिर जाता है और असंख्य भाग मात्र का आहार करते हैं।

दूसरे आचार्य कहते हैं कि ऐसा नहीं है। यहां नय-विशेष की अपेक्षा से कथन है। ऋजुसूत्रनय के अनुसार शरीर रूप में परिणत पुद्गलों के असंख्य भाग का आहार करता है। जो पुद्गल शरीर रूप में परिणत नहीं हुए उन्हें ऋजुसूत्रनय शुद्ध होने से आहार रूप नहीं मानता।

ऋजुसूत्रनय भूत और भविष्य को छोड़कर केवल वर्तमान को स्वीकार करता है। अतः जितने पुद्गल आहार रूप में ग्रहण किये हैं, उन्हें व्यवहार नय तो आहार कहता है, लेकिन ऋजुसूत्रनय के मत से जो पुद्गल उनमें से शरीर रूप परिणत हुए हैं, वही आहार रूप है।

उदाहरणार्थ, किसी व्यक्ति ने दूध पिया। उसमें से कुछ भाग खल-मल रूप में परिणत हो गया और शेष भाग से रस आदि धातुएँ बनीं। ऋजुसूत्र नय इस परिणति को ही आहार मानता है।

जैसे गाय बहुत-सा घास एक साथ मुँह में भरती है, पर उसमें से बहुत भाग गिर जाता है, वह आहार में परिणत नहीं होता। ऋजुसूत्र नय के अनुसार वही पुद्गल आहार-रूप कहलाते हैं, जो वास्तव में आहार रूप में परिणत होते हैं, सब ग्रहण किये हुए पुद्गल नहीं। असल में आहार

वही है जो शरीर रूप में परिणत हो । शरीर रूप में परिणत होकर भी पुद्गलों का असंख्यात भाग ठहरेगा और संख्यात भाग नहीं ठहरेगा । पिये हुए एक सेर दूध में से कुछ भाग रस बनेगा और शेष मल बन कर निकल जायगा । शरीर में जो रस बना, वही ऋजु सूत्र नय के अनुसार आहार कहा जा सकता है ।

ग्रहण किये हुए पुद्गलों में से उतना ही रस शरीर में खिंचता है, जितनी शक्ति होती है । कमजोर मनुष्य आहार में से पूरी तरह रस नहीं खींच पाता और उसका आहार कच्चे मल के रूप में निकल जाता है । मल के देखने से पता लग जाता है कि आहार में से कितना रस खींचा गया है ?

आहार करने का जो प्रयोजन है उस प्रयोजन के पूर्ण होने पर ही ग्रहण किये पुद्गल आहार कहलाएँगे । जब तक उनसे आहार का प्रयोजन सिद्ध नहीं होता तब तक उन्हें आहार नहीं कहा जा सकता ।

आहार करने का प्रधान प्रयोजन है-शरीर में, और इन्द्रियों में शक्ति का संचार होना । इस प्रयोजन को जो पुद्गल पूर्ण करते हैं वही आहार हैं ।

तीसरे आचार्य का कथन यह है कि वास्तव में आहार वह है जो शरीर के साथ तद्रूप परिणत हो जाय । जैसे मनुष्य जो आहार करता है, उसमें से अधिकांश खल-मल रूप में बाहर निकल जाता है, वह आहार नहीं कहलाता, उसी प्रकार जो पुद्गल शरीर रूप में परिणत नहीं होते, उन्हें आहार नहीं कहा जा सकता । अतएव गृहीत पुद्गलों में से असं-

ख्यात भाग का आहार करता है, इसका अभिप्राय यह है कि असंख्यातवाँ भाग शरीर रूप में परिणत होता है।

आहार के जो पुद्गल ग्रहण किये हैं, इनका अनन्त भाग आस्वाद में आता है; अर्थात् गृहीत पुद्गलों के अनन्तवें भाग का रस रूप में रसना इन्द्रिय आस्वादन कर सकती है। मान लीजिए, किसी ने मिश्री की डली मुँह में रखी। उस डली पर जीभ फिरी, उसका स्वाद आया। मगर डली का भीतरी भाग अछूता ही रह गया—उसका आस्वादन नहीं हुआ। इस प्रकार जीभ ऊपर का आस्वाद ले सकती है, भीतर का उसे पता नहीं चलता। अतएव वह अनन्तवें भाग पुद्गलों के रस का ही आस्वादन कर सकती है, सब का नहीं। इसी कारण यह कहा गया है कि अनन्तवें भाग का आस्वादन होता है। यहाँ तक अड़तीस द्वारों का विवेचन हुआ।

अब संग्रह-गाथा के 'सव्वाणि' पद की व्याख्या आरंभ की जाती है। गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं—हे भगवन् ! नारकी जीव जिन पुद्गलों को शरीर रूप में परिणत करते हैं, क्या वे सब पुद्गलों का आहार करते हैं या एक देश का आहार करते हैं ?

भगवान् उत्तर देते हैं—गौतम ! समस्त पुद्गलों का आहार करते हैं।

तात्पर्य यह है कि नारकी जीवों ने आहार के जिन पुद्गलों को शरीर के रूप में परिणत किया है, उन सब का आहार वे करते हैं। यहाँ सब पुद्गल कहने से विशिष्ट पुद्-

गल ही समझने चाहिए । जो पुद्गल ग्रहण करने के पश्चात् गिर गये हों, उन्हें यहां छोड़ देना चाहिए-उनका ग्रहण नहीं करना चाहिए । अगर ऐसा न किया गया तो विरोध आ जाएगा । जो वचन जिस अपेक्षा से कहा गया हो उसे उसी अपेक्षा से समझना चाहिए ।

कहा भी है—

जं जह सुत्ते भणियं, तहेव जइ तं वियालणा नत्थि ।

किं कालियानुओगो, दिट्ठो दिट्ठिप्पहाणेहि ॥

अर्थात्—सूत्र में जो बात जिन शब्दों में कही गई है, अगर शाब्दिक रूप में उसे उसी प्रकार माना जाय और वक्रा की विवक्षा का विचार का खयाल न किया जाय तो हानी जन कालिक अनुयोग का उपदेश कैसे करें ?

आजकल साधुओं के ज्ञान में न्यूनता आ गई है, अतएव वह टट्ट्या वांच देने में ही सूत्र के व्याख्यान की इतिश्री समझ लेते हैं । मगर सूत्र में नवीन और सूक्ष्म बातें उतनी ही खांजी जा सकती हैं, जितनी खोजने वाले में शक्ति हो । हाँ, शक्ति ही न हो तो बात दूसरी है । जिनकी दृष्टि सूक्ष्म और पैनी है, वे शास्त्र-सागर के भीतर अवगाहन करके अनेक महत्वपूर्ण और बहुमूल्य अर्थ रूपी सुक्ता निकालते हैं ।

इसके अनन्तर पूर्वोक्त संग्रह गाथा के ' कीस ' पद की व्याख्या की जाती है । ' कीस ' यह एक पद है । इसमें अनेक पदों का उपचार किया जाता है । अतएव यह अर्थ समझना

चाहिए कि नारकी जीवों ने जो आहार किया है, वह किस स्वभाव में, किस प्रकार और किस रूप में परिणत होता है ?

कल्पना कीजिए, किसी ने दूध पिया। उस दूध का अंश कहां जायगा ? किस रूप में परिणत होगा ?

किसी अत्यन्त लुधा पीडित व्यक्ति से देखने, नुनने या सूँघने के लिए कहा जाय तो वह उत्तर देगा-मुझमें शक्ति नहीं है। मेरी इन्द्रियाँ बेकाम होरही हैं। इसी प्रकार उस चलने-फिरने के लिए कहा जाय, तब भी वह यही उत्तर देगा। इसके पश्चात् किसी ने उसे दूध पिला दिया।

सद्यः शक्तिकरं पयः ।

दूध तत्काल शक्ति देने वाला है। अतएव दूध पीते ही उसके सारे शरीर में शक्ति आगई। उस दूध की शक्ति के बिस्से हुए। उन हिस्सोंमें से नाक, कान, आँख, हाथ, पैर आदि को कितना-कितना भाग मिला, यह एक विचारणीय बात है।

जो आहार किया जाता है, उसके पुद्गल मृदु भी होते हैं, स्निग्ध भी होते हैं और कठोर भी होते हैं। लेकिन सब से सूक्ष्म सार आँख खींच लेती है। उससे कम सार वाले क्रमशः कान, नाक, जिह्वा और शरीर खींचते हैं। भारी पुद्गलों को शरीर से कम जिह्वा खींचती है और जीभ से क्रमशः नाक, कान और आँख खींचती है। इस प्रकार आहार के संबंध में कथन किया गया है।

इस कथन की अपेक्षा, आपके हाथ में स्थित दूध को कान या आँख कहा जा सकता है, क्योंकि दूध में और कान-आँख में कार्य-कारण भाव संबंध है। यद्यपि दूध में कान या आँख दिखलाई नहीं देती, तथापि कार्य-कारण का विचार किया जाय तो ब्रह्म कथन में कोई भ्रम प्रतीत नहीं होगा।

इसीलिए गौतम स्वामी पूछते हैं कि नारकी जीवों का आहार किस रूप में परिणत होता है ? अर्थात् नारकी जीवों ने जिन पुद्गलों को आहार रूप में ग्रहण किया है, वे पुद्गल फिर किस रूप में परिणत होते हैं ?

इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् फरमाते हैं—हे गौतम ! जिन पुद्गलों को नारकी जीवों ने आहार रूप में ग्रहण किया है, वे आँख, कान, नाक, जीभ और त्वचा, इस प्रकार पाँचों इन्द्रियों के रूप में परिणत होते हैं।

नारकी जीवों का आहार अशुभ रूप में परिणत होता है, अनिष्ट रूपता प्रकट करता है, कान्त और केमनीय नहीं है। अमनोज्ञ है, अमनोगम्य है। इस प्रकार वह आहार पश्चात्ताप का कारण है। वह नीची स्थिति में ले जाता है, ऊँची स्थिति में नहीं ले जाता।

आहार में दोनों प्रकार की शक्तियाँ हैं—ऊँची स्थिति में ले जाने की भी और नीची स्थिति में ले पटकने की भी। जो आहार स्वार्थी न हो, परतन्त्र हो, उस आहार को ग्रहण करने वाला नरक में ही समझना चाहिए।

नरक के आहार की बुराई बतलाने के लिए जो विशेषण दिये गये हैं, उनके सम्बन्ध में टीकाकार कहते हैं कि यह सब शब्द एकार्थक हैं, फिर भी अतिशय अर्थान् अधिकता प्रकट करने के लिए पृथक्-पृथक् अनेक शब्दों का प्रयोग किया गया है।

यह चालीसवाँ द्वार हुआ और पूर्वोक्त संग्रह-गाथा का विवेचन समाप्त होता है। संग्रहगाथा के विवरण-सूत्र किसी किसी ही प्रति में पाये जाते हैं, सब में नहीं।



आहार के परिणामन का वर्णन

मूलपाठ—

प्रश्न-नेरइयाणं भंते ! पुव्वहारिया पोग्गला
परिणया ? आहारिया आहारिज्जमाणा
पोग्गला परिणया ? अण्णाहारिया आहारि-
ज्जस्समाणा पोग्गला परिणया ? अण्णाहारिया
अण्णाहारिज्जस्समाणा पोग्गला परिणया ?

उत्तर-गोयमा ! नेरइयाणं पुव्वहारिया
पोग्गला परिणया, आहारिया आहारिज्जमाणा
पोग्गला परिणया, परिणमंति य । अण्णाहारिया
आहारिज्जस्समाणा पोग्गला एो परिणया,
परिणमिस्संति । अण्णाहारिया अण्णाहारिज्ज-

स्समाणा पोग्गला एो परिणया, एो परिण-
मिस्संति ।

प्रश्न-नेरइयाणं भंते ! पुब्बाहारिया पो-
ग्गला चिया ? पुच्छा ।

उत्तर-जहा परिणया, तहा चिया वि,
एवं उवचिया वि, उदीरिया, वेइया, निज्जिजणा ।
गाहा-

परिणय-चिया य उवचिया,
उदीरिया वेइया य निज्जिजणा ।
एक्केकम्मि पदम्मि,
चउव्विहा पोग्गला होंति ॥

संस्कृत-छाया-प्रश्न-नैरयिकाणां भगवन् ! पूर्वाहताः पुद्गलाः
परिणताः ? आहताः, आह्रियमाणाः पुद्गलाः परिणताः ? अनाहताः
आहरिष्यमाणाः पुद्गलाः परिणताः ? अनाहताः अनाहरिष्यमाणाः
पुद्गलाः परिणताः ?

उत्तर-गौतम ! नैरयिकाणां पूर्वाहताः पुद्गलाः परिणताः,
आहताः आह्रियमाणाः पुद्गलाः परिणताः, परिणमन्ति च, अनाहताः

आहरिष्यमाणाः पुद्गलाः नो परिणताः, परिणंस्पन्ति । अनाहृताः
अनाहरिष्यमाणाः पुद्गलाः नो परिणताः, नो परिणंस्पन्ति ।

प्रश्न—नैरयिकाणां भगवन् ! पूर्वाहृताः पुद्गलाधिताः ? पृच्छा ।

उत्तर—यथा परिणतास्तथा चिता अपि, एवमुपचिता अपि,
उदीरिताः, वेदिताः, निर्जीर्णाः ।

गाथा—परिणताधिताश्चोपचिताः, उदीरिता वेदिताश्च निर्जीर्णाः ।

एकैकस्मिन् पदे चतुर्विधाः पुद्गला भवन्ति ॥

सूलार्थ—प्रश्न—हे भगवन् ! नारकियों द्वारा पहले
आहार किये हुए पुद्गल परिणत हुए ? आहार किये
हुए तथा (वर्तमान में) आहार किये जाने वाले पुद्गल
परिणत हुए ? जो पुद्गल अनाहारित हैं तथा (आगे) आहार
रूप में ग्रहण किये जाएँगे वह परिणत हुए ? या जो अना-
हारित हैं और आगे भी आहृत नहीं होंगे, वह परिणत हुए ?

उत्तर—हे गौतम ! नारकियों द्वारा पहले आहार किये
हुए पुद्गल परिणत हुए, आहार किये हुए और आहार
किये जाते हुए पुद्गल परिणत हुए, और परिणत होते हैं,
नहीं आहार किये हुए (अनाहारित) पुद्गल परिणत नहीं
हुए हैं । जो पुद्गल (आगे) आहार किये जाएँगे वह परि-
णत होंगे । अनाहारित पुद्गल परिणत नहीं हुए हैं और जो
आगे आहारित नहीं होंगे, वह परिणत नहीं होंगे ।

प्रश्न—हे भगवन् ! नारकियों द्वारा पहले आहारित पुद्गल चय को प्राप्त हुए ? (प्रश्न)

उत्तर—हे गौतम ! जिस प्रकार परिणत हुए, उसी प्रकार चय को प्राप्त हुए । उसी प्रकार उपचय को प्राप्त हुए, उदीरणा को प्राप्त हुए, वेदन को प्राप्त हुए तथा निर्जरा को प्राप्त हुए । गाथा—

परिणत, चित, उपचित, उदीरित, वेदित, और निर्जीर्ण, इस एक-एक पद में चार प्रकार के पुद्गल (प्रश्नोत्तर विषयक) होते हैं ।

व्याख्यान—नरक के आहार के संबंध में यहाँ चार प्रश्न और उठते हैं । उनका आशय यह है—

(१) पूर्व काल में ग्रहण किये हुए या आहार किये हुए पुद्गल क्या शरीर रूप में परिणत हुए हैं ?

(२) भूतकाल में ग्रहण किये हुए तथा वर्तमान में ग्रहण किये जाने वाले पुद्गल शरीर में परिणत हुए हैं ?

(३) भूतकाल में जिन पुद्गलों का आहार नहीं किया, लेकिन भविष्यकाल में जिनका आहार किया जायगा, वे पुद्गल शरीर रूप में परिणत हुए ?

(४) जिन पुद्गलों का भूतकाल में आहार नहीं किया और भविष्य में भी आहार नहीं किया जायगा, वह पुद्गल शरीर रूप में परिणत हुए ?

पूर्वकाल में जिन पुद्गलों का आहार किया गया हो या संग्रह किया गया हो उन्हें आहृत या आहारित कहते हैं। संग्रह करना और खाना, दोनों ही आहार है।

पुद्गल शब्द से यहाँ पुद्गल-स्कंध समझना चाहिए, परमाणु नहीं। और परिणत होने का अर्थ, शरीर के साथ एकमेक होकर शरीर रूप में हो जाना, यहाँ ग्रहण करना चाहिए।

आहार का परिणाम है-शरीर बनना। जो आहार शरीर के साथ एकमेक हो जाता है अर्थात् जिस आहार का शरीर बन जाता है, वह आहार परिणत हुआ या परिणाम को प्राप्त हुआ या परिणमा कहलाता है।

इन प्रश्नों के विषय में आचार्य का कथन है कि यह काकु-पाठ हैं। काकुपाठ वह कहलाता है, जो कण्ठ दबाकर बोला जाय। अर्थात् जिस बात को जोर से तथा आश्चर्य सहित कहा जाता है वह कथन काकु है। यथा-क्या यह पेसा ही है?

यह चारों प्रश्न दीखते हैं सीधे-साधे, लेकिन इनमें दार्शनिक आशय भरा हुआ है। इन्हीं चार प्रश्नों के ६३ भंग होते हैं। एकसंयोगी के छह भंग हैं—(१) पूर्वाहृत (२) आह्रियमाण (३) आहारिष्यमाण (४) अनाहृत (५) अनाह्रियमाण (६) अनाहारिष्यमाण। इन छह पदों के त्रैसठ भंग होते हैं। प्रत्येक भंग में एक-एक प्रश्न का उद्भव होता है, अतएव त्रैसठ भंग हुए। उनका क्रम इस प्रकार है—

(क) (१) पूर्वाहृत आह्रियमाण (२) पूर्वाहृत आहारिष्यमाण (३) पूर्वाहृत अनाहृत (४) पूर्वाहृत अनाह्रियमाण (५) पूर्वाहृत अनाहारिष्यमाण (६) आह्रियमाण आहारिष्यमाण (७)

आह्रियमाण अनाहत (८) आह्रियमाण अनाह्रियमाण (९) आह्रियमाण अनाहरिष्यमाण (१०) आहरिष्यमाण अनाहत (११) आहरिष्यमाण अनाह्रियमाण (१२) आहरिष्यमाण अनाहरिष्यमाण (१३) अनाहत अनाह्रियमाण (१४) अनाहत अनाहरिष्यमाण (१५) अनाह्रियमाण अनाहरिष्यमाण ।

इस प्रकार दो-दो भंगों को मिलाने से पन्द्रह भंग होते हैं । तीन का संयोग करने पर बीस भंग होते हैं और चार संयोगी पन्द्रह भंग होते हैं । इसी तरह पाँच संयोगी छह भंग और छह संयोगी का एक भंग होता है । अतएव एक-एक से लेकर छह संयोगी तक के कुल त्रैसठ भंग होते हैं । मगर संप्रह की अपेक्षा एक ही प्रश्न है ।

तात्पर्य यह है कि गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से उक्त चार प्रश्न किये । इनके उत्तर में भगवान् ने फरमाया—हे गौतम ! जिन पुद्गलों का भूतकाल में आहार किया है वे भूतकाल में ही शरीर रूप परिणत हो चुके हैं । ग्रहण के पश्चात् परिणमन होता ही है; अतएव पूर्वकाल में आहार किये हुए पुद्गल पूर्वकाल में ही परिणत हो गये ।

दूसरे प्रश्न में भूतकाल के साथ वर्तमान संबंधी प्रश्न किया गया है । उसके उत्तर में भगवान् का कथन यह है कि-जिनका आहार हो चुका वे पुद्गल परिणत हो चुके और जिनका आहार हो रहा है वे परिणत हो रहे हैं ।

यहां टीकाकार कहते हैं कि जिन पुद्गलों का आहार किया और जिनका वर्तमान में आहार किया जा रहा है, इनके विषय में कहना चाहिए कि वे पुद्गल परिणत होंगे । मगर यहां कहा गया है कि परिणत हो रहे हैं । सूत्रकार स्वयं कहते

हैं कि जिन पुद्गलों का आहार किया जा रहा है और आगे किया जायगा, वे पुद्गल परिणत होंगे। तात्पर्य यह है कि वर्त्तमान में ग्रहण किये जाने वाले पुद्गल उसी समय शरीर रूप में परिणत नहीं हो सकते। बल्कि वे भविष्य में ही परिणत होंगे। अतएव 'जिन पुद्गलों का आहार किया जा चुका और जिनका आहार किया जा रहा है, वह पुद्गल परिणत हो रहे हैं, यह कथन युक्ति संगत नहीं मालूम होता। उनके लिए 'परिणत होंगे' ऐसा कहना चाहिए।

टीकाकार का यह कथन नय-विशेष की विवक्षा से ठीक ही है।

तीसरा प्रश्न भविष्य के संबंध में है। उसका सरल उत्तर यही है कि भविष्य में जिन पुद्गलों का आहार करेंगे, वे पुद्गल भविष्य में परिणत होंगे।

चौथा प्रश्न यह था कि जिन पुद्गलों का भूतकाल में आहार नहीं किया और भविष्य में भी आहार नहीं किया जायगा, वे पुद्गल क्या शरीर रूप में परिणत हुए? इसका उत्तर यह है कि ऐसे पुद्गल परिणत नहीं होंगे। जिनका ग्रहण ही नहीं हुआ, उनका शरीर रूप में परिणमन भी न होगा।

पहले जो त्रेसठ भंग बतलाए गये हैं, उन सब का इसी आधार पर समाधान समझ लेना चाहिए।

आहार किये हुए पुद्गल जब शरीर के भीतर गये तो उनका चय, उपचय भी होगा ही। इसलिए गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं कि जीव ने जिन पुद्गलों का आहार किया

वे पुद्गल चय को प्राप्त हुए ? परिणमन के संबंध में जितने और जैसे प्रश्न किये गये हैं, वही सब प्रश्न चय के संबंध में भी समझ लेने चाहिए और उनका उत्तर भी परिणमन संबंधी उत्तरों के समान ही समझ लेना चाहिए ।

इस प्रकरण में, टीकाकार के कथनानुसार वाचना की भिन्नता देखी जाती है । एक जगह एक प्रकार की वाचना है तो दूसरी जगह दूसरी ही वाचना है । वाचना के इस भेद को देखकर शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि पाठ में भिन्नता होने पर भी अभिधेय-मूल वस्तुव्य-सबका समान है । अतएव पाठान्तर से शंका नहीं बरन् शंका का समाधान होना चाहिए ।

संदेह होता है कि दो पाठ परस्पर विरोधी होने से मान्य नहीं हो सकते, तब एक किस पाठको मान्य किया जाय ? मगर इसमें संदेह की कोई बात नहीं है । दोनों आचार्य जब शास्त्र लिखने के समय एकत्र हुए, तब दोनों को दो तरह की बातें स्मरण में थी, क्योंकि पहले शास्त्र लिखे हुए नहीं थे, कण्ठस्थ ही थे । आचार्यों ने अपने २ स्मरण की बात एक दूसरे के सामने रख दी, और कहा कि न हम सर्वज्ञ हैं, न आप सर्वज्ञ हैं । ध्येय दोनों का एक है । तब दोनों में से किसका स्मरण सही है और किसका नहीं है, यह कैसे कहा जा सकता है ? अतएव दोनों बातें लिख दें । इनमें कौन-सी बात सही है, यह ज्ञानी जानें ।

दोनों आचार्यों को सर्वज्ञ के वचनों पर और अपने-अपने स्मरण पर विश्वास था । ऐसी स्थिति में अपने स्मरण को गलत मानने का कोई कारण न था । इस कारण दोनों

आचार्यों ने दोनों बातें लिख दीं। इस प्रकार के मतभेद को देखकर शास्त्र में शंका मत लाओ। यह मतभेद शास्त्र की और शास्त्र के प्रणेता आचार्यों की प्रामाणिकता के प्रमाण हैं।

उक्त दोनों आचार्यों ने किसी एक निर्णय पर पहुँचने का प्रयास किया, लेकिन दोनों छद्मस्थ थे, केवलशानी नहीं। अतएव उन्होंने समभाव से अपनी-अपनी धारणा को सत्य स्वीकार करते हुए भी दूसरे की धारणा को असत्य नहीं ठहराया। ऐसा करके वे हमारे सामने एक उज्ज्वल आदर्श छोड़ गये हैं। हमें उनका अनुकरण करके शास्त्र के संबंध में ठठ-वाद से काम नहीं लेना चाहिए और अपने आपको ही सत्य-वादी ठहराकर दूसरे को भूठा घोषित करने का साहस नहीं करना चाहिए।

जिन पुद्गलों को आहार रूप में परिणत किया है, उनका शरीर में एकमेक होकर शरीर को पुष्ट करना चय कहलाता है। चय के परिणमन की ही-तरह चार भंग हैं। इन चार भंगों का उत्तर परिणमन की तरह ही है।

चय और परिणमन के काल में बहुत अन्तर है। पहले परिणमन होता है, उसके बाद चय होता है। इसलिए दोनों-चय और परिणमन पृथक्-पृथक् हैं।

शानी महापुरुषों ने भूतकाल का वर्णन किया है, इससे उनकी त्रिकालक्षता सिद्ध होती है। साथ ही नरक-लोक के प्राणियों के आहार के विषय में हमें जानकारी होती है। वर्तमान

काल में जो जीव नरक में हैं और आगे जो नरक में जाएँगे, उन्हें कैसा आहार करना पड़ता है, या करना पड़ेगा, यह भी हमें विदित हो जाता है।

तीसरे भंग से यह भी प्रकट हो जाता है कि भूतकाल में तो यह आहार नहीं किया, मगर भविष्य में करेंगे। उस समय होंगे वे भी करेंगे और नरक में जाएँगे वे भी करेंगे। इस कथन से नरक का शाश्वतपन सिद्ध किया गया है।

न भूत में आहार किया है, न भविष्य में आहार करेंगे, यह कथन अव्यवहारराशि को सूचित करता है; क्योंकि अव्यवहारराशि के जीव उस राशि से न कभी निकले हैं, न निकलेंगे।

चय के पश्चात् उपचय का कथन है। जो चय किया गया है, उसमें और-और पुद्गल इकट्ठे कर देना उपचय कहलाता है। जैसे, ईंट पर ईंट चुनी गई यह सामान्य चुनाई कहलाई और फिर उस पर मिट्टी या चूना आदि का लेप किया गया, यह विशेष चुनाई हुई। इसी प्रकार सामान्य रूप से शरीर का पुष्ट होना चय कहलाता है और विशेष रूप से पुष्ट होना उपचय कहलाता है।

कर्म—पुद्गलों का स्वाभाविक रूप से उदय में न आकर करण विशेष के द्वारा उदय में आना उदीरणा कहलाता है। प्रयोग के द्वारा कर्म का उदय में आना उदीरणा है, इस प्रकार की 'कर्म प्रकृति' की सान्नी भी यहां दी गई है।

कर्म के फल को भोगना वेदना है। जिस समय से कर्म-फल का भोग आरंभ होता है और जिस समय तक भोगना जारी रहता है, वह सब काल वेदना का काल कहलाता है।

एक देश से कर्मों का क्षय होना निर्जरा है। जिस कर्म का फल भोग लिया जाता है, वह कर्म क्षीण हो जाता है। उसका क्षीण हो जाना निर्जरा है।

चय, उपचय, उदीरण वेदना और निर्जरा, इन सब के विषय में परिणमन के समान ही वस्तुव्यता है। वैसे ही प्रश्न, वैसे ही उत्तर, वैसे ही भंग समझने चाहिए। सिर्फ परिणत के स्थान पर चित, उपाचित, उदीरित आदि शब्दों का प्रयोग करना चाहिए।





मूलपाठ-

प्रश्न—नेरईयाणं भंते ! कतिविहा पो-
गला भिज्जंति ?

उत्तर—गोयमा ! कम्मदव्ववग्गणमहि-
किच्च दुविहा पोग्गला भिज्जंति । तं जहा-अण
चेव, बायरा चेव ।

प्रश्न—नेरईयाणं भंते ! कतिविहा पोग्ग-
ला चिज्जंति ?

उत्तर—गोयमा ! आहारदव्ववग्गणमहि-
किच्च दुविहा पोग्गला चिज्जंति । तं जहा-अण
चेव, बायरा चेव । एवं उवचिज्जंति ।

प्रश्न—एरईयाणं भंते ! कतिविहा पोग्गले उदीरेंति ?

उत्तर—गोयमा ! कम्मदव्वग्गणमहिक्किच्च दुविहे पोग्गले उदीरेंति । तं जहा-अणू चेव, बायरा चेव । सेसा वि एवं चेव भाणियव्वा-वेदेंति, णिज्जरेणंति । उयट्टिंसु, उयट्टेंति, उयट्टे-स्संति । संकामिंसु, संकामेणंति, संकामेस्संति । णिहत्तिंसु, णिहत्तेणंति, णिहत्तेस्संति । णिकायिंसु, णिकायिणंति, णिकायेस्संति । सव्वेसु वि कम्म-दव्वग्गणमहिक्किच्च । गाहा-

भेदिय, चिया. उवाचिआ,

वेदिआ य निज्जिणणा ।

उव्वट्टणा-संकामणा-णिहत्तणा-

णिकायणे तिविहकालो ॥

संस्कृत-छाया-प्रश्न-नैरयिकाणां भगवन् ! कतिविधाः पुद्गलाः भिद्यन्ते ?

उत्तर—गौतम ! कर्मद्रव्यवर्गणामधिकृत्य द्विविधाः पुद्गला भिद्यन्ते । तद्यथा—अणवश्चैव, बादराश्चैव ।

प्रश्न—नैरयिकाणां भगवन् ! कतिविधाः पुद्गलाश्चीयन्ते ?

उत्तर—गौतम ! आहारद्रव्यवर्गणामधिकृत्य द्विविधाः पुद्गलाश्चीयन्ते । तद्यथा—अणवश्चैव, बादराश्चैव । एवमुपचीयन्ते ।

प्रश्न—नैरयिका भगवन् ! कतिविधान् पुद्गलान् उदीरयन्ति ?

उत्तर—गौतम ! कर्मद्रव्यवर्गणामधिकृत्य द्विविधान् पुद्गलान् उदीरयन्ति । तद्यथा—अणूश्चैव, बादराश्चैव । शेषा अप्येवं चैव भविष्यन्ति । त्वयाः—वेद्यन्ति; निर्जीर्यन्ति; अपावर्तयन्, अपवर्तयन्ति अपवर्तयिष्यन्ति; समक्रमयन्, संक्रमयन्ति, संक्रमयिष्यन्ति, निधत्तानकार्षुः, निधत्तान् कुर्वन्ति, निधत्तान् करिष्यन्ति; निष्काचितवन्तः, निष्काचयन्ति, निष्काचयिष्यन्ति । सर्वेष्वपि कर्मद्रव्यवर्गणामधिकृत्य ।

माथा—मेदितः, चित्ताः, उपचित्ताः, वेदिताश्च निर्जीर्णः ।

अपवर्तन-संक्रमण-निधत्तन-निष्काचने त्रिविधः कालः ॥

मूलार्थ—

प्रश्न—हे भगवन् ! नारकी जीवों द्वारा कितने प्रकार के पुद्गल भेदे जाते हैं ?

उत्तर—गौतम ! कर्म द्रव्यवर्गणा की अपेक्षा दो प्रकार के पुद्गल भेदे जाते हैं । वे इस प्रकार हैं—अणु और बादर ।

प्रश्न—हे भगवन् ! नारकी जीव कितने प्रकार के पुद्गलों का चय करते हैं ?

उत्तर—हे गौतम ! आहारद्रव्य-वर्गणा की अपेक्षा दो प्रकार के पुद्गलों का चय करते हैं । वे इस प्रकार हैं—अणु और वादर । इसी प्रकार उपचय समझना ।

प्रश्न—हे भगवन् ! नारकी जीव कितने प्रकार के पुद्गलों की उदीरणा करते हैं ?

उत्तर— गौतम ! कर्मद्रव्य-वर्गणा की अपेक्षा दो प्रकार के पुद्गलों की उदीरणा करते हैं । वह इस प्रकार हैं—अणु और वादर । शेष पद भी इस प्रकार कहने चाहिए—वेदते हैं, निर्जरा करते हैं, अपवर्त्तन को प्राप्त हुए, अपवर्त्तन को प्राप्त हो रहे हैं, अपवर्त्तन को प्राप्त करेंगे । संक्रमण किया, संक्रमण करते हैं, संक्रमण करेंगे । निधत्त हुए, निधत्त होते हैं, निधत्त होंगे । निकाचित हुए, निकाचित होते हैं, निकाचित होंगे । इन सब पदों में भी कर्मद्रव्य-वर्गणा की अपेक्षा से (अणु और वादर पुद्गलों का कथन करना चाहिए)

गाथार्थः—भिदे, चय को प्राप्त हुए, उपचय को प्राप्त हुए, उदीरे, वेदे गये, और निर्जीण हुए । अपवर्त्तन, संक्रमण, निधत्तन, और निकाचन, इन चार पदों में तीनों प्रकार का काल कहना चाहिए ।

व्याख्यान—नरक के जीव पुद्गल का आहार करते हैं, यह कहा जा चुका है। अब पुद्गल का अधिकार आरंभ होता है। इस अधिकार के अठारह सूत्र कहे गये हैं।

श्री गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं—नारकी जीव कितने प्रकार के पुद्गलों को भेदते हैं ?

सामान्य रूप से पुद्गलों में तीन प्रकार का रस होता है, तीव्र, मध्यम और मन्द। यहाँ भेदने का अर्थ है, इस रस में परिवर्तन करना। जीव अपने उद्वर्त्तनाकरण (अध्यवसाय-विशेष) से मंद रस वाले पुद्गलों को मध्यम रस वाले और मध्यम रस वाले पुद्गलों को तीव्र रस वाले बना डालता है। इसी प्रकार अपवर्त्तनाकरण द्वारा तीव्र रस के पुद्गलों को मध्यम रस वाले और मध्यम रस वालों को मंद रस वाले बना सकता है। जीव अपने अध्यवसाय द्वारा ऐसा परिवर्त्तन करने में समर्थ है, तो क्या नारकी जीव भी ऐसा कर सकते हैं ? क्या वे तीव्र रस वाले पुद्गलों को मन्द-रस के रूप में और मंद-रस को तीव्र रस के रूप में परिणत कर सकते हैं ? अगर कर सकते हैं तो कितने प्रकार के पुद्गलों को परिणत कर सकते हैं ? अर्थात् भेद सकते हैं ?

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् फरमाते हैं—कर्म द्रव्य वर्गणा की अपेक्षा दो प्रकार के पुद्गलों को नारकी जीव भेद सकते हैं। दो प्रकार के पुद्गल हैं—सूक्ष्म (अणु) और वादर।

सामान जाति के द्रव्य के समूह को वर्गणा कहते हैं। द्रव्य वर्गणा औदारिक आदि द्रव्यों की भी होती है, लेकिन

संक्रमण के विषय में दूसरे आचार्य का यह मत है कि आयुर्कर्म, दर्शन मोहनीय और चारित्र्य मोहनीय को छोड़कर, शेष प्रकृतियों का उत्तर प्रकृतियों के साथ जो संचार होता है, वह संक्रमण कहलाता है। बदाहरणार्थ, कल्पना कीजिए किसी प्राणी के शुभ कर्म उदय में आये। वह साता वेदनीय का अनुभव कर रहा है। इसी समय उसके अशुभ कर्मों की ऐसी कुछ परिणति हुई कि उसका सातावेदनीय, असातावेदनीय के रूप में परिणत हो गया। इसी प्रकार असाता भोगते समय शुभ कर्मों की ऐसी परिणति हो गई कि उसकी असाता, साता में परिणत हो गई। यह वेदनीय कर्म का संक्रमण कहलाया।

यद्यपि यह सत्य है कि कृत कर्म निष्फल नहीं होते, तथापि निराश होने का कोई कारण नहीं है। पाप को काट डालना या पुण्य रूप में पलट देना हमारी शक्ति के बाहर नहीं है। पाप, पुण्य रूप में परिणत हो सकता है और कट भी सकता है। अगर ऐसा न होता तो दान, तप आदि अनुष्ठान निरर्थक हो जाता। लेकिन यह अनुष्ठान निरर्थक नहीं हैं। तपस्या में इतनी प्रचण्ड शक्ति है कि उससे घोर से घोर कर्म भी नष्ट किये जा सकते हैं। प्रदेशी राजा अपने अशुभ कर्मों को शुभ रूप में पलट कर सूर्याभ देव हुआ था। तात्पर्य यह है कि आत्मा ही कर्मों का कर्त्ता और हर्त्ता है। उसमें असीम शक्ति है। वह शुभ को अशुभ रूप में और अशुभ को शुभ रूप में परिवर्तित भी कर सकता है। यह परिवर्तन ही संक्रमण कहलाता है।

अगला प्रश्न है—नारकियों के कितने प्रकार के पुद्गल निधत्त हुए ?

भिन्न-भिन्न पुद्गलों को इकट्ठा करके धारण करना निधत्त करना कहलाता है। अर्थात् कर्म-पुद्गलों को एक-दूसरे पर रच देना, जैसे एक थाली में बिखरी हुई सुइयों को एक के ऊपर दूसरी, आदि के क्रम से जमा देना, निधत्त करना कहलाता है। निधत्त शब्द यहाँ रुढ़ है।

निधत्त, कर्म की अवस्था-विशेष है। इस अवस्था को प्राप्त हुए कर्मों में उद्धर्तना या अपवर्तना करण ही परिवर्तन कर सकते हैं, अन्य करण नहीं। तात्पर्य यह है कि निधत्त अवस्था से पड़ले तो और भी करण लग सकते थे, मगर निधत्त अवस्था में उक्त दो करणों के अतिरिक्त कोई तीसरा करण नहीं लग सकता। जब कर्म पूर्वोक्त उद्धर्तना और अपवर्तना करण के विनाय और किसी करण का विषय न हो, उस अवस्था का नाम निधत्त है।

अब प्रश्न यह है कि नारकी कितने प्रकार के कर्मों को निकाचित करते हैं ?

जिन कर्मों को निधत्त किया गया था, उन्हें ऐसा मजबूत कर देना कि जिससे वे एक-दूसरे से अलग न हो सकें और जिनमें कोई भी करण कुछ भी फेरफार न कर सके, इसे निकाचित करना कहते हैं। उदाहरणार्थ-सुइयों को एक-दूसरे के पास इकट्ठा कर देना निधत्त करना कहलाता है। और उसके पश्चात् उन्हें अग्नि में तपाकर दृथांशु से ठोक दिया और आपस में इस प्रकार मिला दिया, जिससे वे एक-दूसरी से अलग न हो सकें। सुइयों के समान कर्मों का इस प्रकार मजबूत हो जाना कि फिर उसमें कोई परिवर्तन न हो, निकाचित हो जाना कहलाता है।

लिया । सैकिडों पर आकर आप रुक गये । लेकिन क्या सैकिडों के हिस्से नहीं हो सकते ? अवश्य ! मगर आपका काम इतने से ही चल जाता है, इस कारण आप आगे विभाजन नहीं करते । किन्तु ज्ञानियों को तो एक समय से भी काम है और अपनी दिव्य दृष्टि में वे उस 'समय' को स्पष्ट रूप से देखते भी हैं । ज्ञानियों द्वारा किये गये इस काल-विभाग से ही अनुमान लगाया जा सकता है कि शास्त्र कितनी सूक्ष्म दृष्टि से लिखे गये हैं ।

दूसरा प्रश्न है—भगवन् ! नारकी जिन पुद्गलों को तैजस-कार्मण शरीर के रूप में ग्रहण करते हैं, उन पुद्गलों की जो उदीरणा होती है, वह भूतकाल में गृहीत पुद्गलों की होती है, या वर्त्तमान काल में ग्रहण किये जाने वाले पुद्गलों की या भविष्य में ग्रहण किये जाने वाले पुद्गलों की होती है ?

इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फरमाया—गौतम ! नारकी तैजस-कार्मण शरीर के रूप में ग्रहण किये हुए जिन पुद्गलों की उदीरणा करते हैं वे पुद्गल भूतकाल में ग्रहण किये हुए होते हैं, वर्त्तमान या भविष्य काल में ग्रहण किये हुए या किये जाने वाले नहीं होते ।

बौद्ध लोग क्षणिकवादी हैं । वे वर्त्तमान काल में ठहरने वाली वस्तु ही मानते हैं, भूत और भविष्य काल में किसी भी पदार्थ का रहना नहीं मानते । जो वर्त्तमान क्षण में है, उसका दूसरे क्षण में समूल नाश हो जाता है । कोई भी पदार्थ वर्त्तमान के अतिरिक्त किसी भी काल में नहीं रहता । लेकिन जैन शास्त्र ऐसा नहीं मानता । जैन शास्त्र कहता है कि अगारं

भूतकाल का पुण्य-पाप सर्वथा नष्ट हो जावे और आत्मा के साथ उसका सम्वन्ध न रहे, तो फिर भूतकाल के कर्म, वर्त्तमान में उदित ही न हों। भूतकाल और भविष्यकाल को एकदम अस्वीकार कर देने से संसार के समस्त व्यवहार ही भंग हो जाएँगे। मान लीजिए, एक मनुष्य ने दूसरे को ऋण दिया। कुछ दिनों बाद ऋण देने वाला माँगने गया तो ऋण लेने वाला कहेगा-वाह ! किसने ऋण दिया और किसने ऋण लिया है ! जिसने ऋण दिया था और जिसने लिया था, वह दोनों तो उसी समय सर्वथा समाप्त हो गये। अब तुम कोई दूसरे हो और मैं भी और ही हूँ। इसी प्रकार अगर कर्म भी नष्ट हो जाते हों तो उनका फल भी किसी को भोगना न पड़ेगा और स्वर्ग-नरक आदि की मान्यताएँ हवा में उड़ जाएँगी।

उदीरणा भूतकाल में बँधे हुए कर्म की होती है। वर्त्तमान में कर्म बँध ही रहा, उसकी उदीरणा नहीं हो सकती। और भविष्यकालीन कर्म अबतक बँधे ही नहीं हैं। उनकी उदीरणा होगी ही कैसे !

यहां तैजस और कार्मण दोनों शरीरों का कथन क्यों किया गया है ? अकेले कार्मण शरीर का कथन क्यों नहीं किया गया ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि तैजस शरीर आठ-स्पर्शी है और कार्मण चतुःस्पर्शी है। कार्मण शरीर तैजस के बिना नहीं रह सकता, जैसे विजली और ताँबे का तार। शक्ति विजली में होती है मगर ताँबे के तार के बिना वह ठहर नहीं सकती। अतएव विजली-और तार मिलकर उपयोगी होते हैं। इसी प्रकार बिना तैजस शरीर के कार्मण शरीर ठहर नहीं सकता। इसी कारण यहां दोनों का ही ग्रहण किया गया है।

आत्मा के साथ पहले का जो तैजस-कर्मण शरीर है, वह सूक्ष्म है। वर्तमान में जो पुद्गल ग्रहण किये जाते हैं, उनका पुद्गल नाम मिटकर तैजस कर्मण नाम हो जाता है। इस सूत्र से यह सिद्ध है कि जीव जहाँ कहीं भी जाता है, तैजस और कर्मण उसके साथ सदैव बने रहते हैं।

तीसरा प्रश्न है—भगवन् ! नारकी जिन कर्मों को वेदते हैं—जिन कर्मों का फल भोगते हैं, वे कर्म भूतकाल के हैं, या वर्तमान काल के या भविष्य काल के ?

इसके उत्तर में भगवान् ने कहा—गौतम ! अतितकाल में ग्रहण किये हुए कर्मों का वेदन होता है; वर्तमान के तथा भविष्य के कर्मों का वेदन नहीं होता। इसी प्रकार निर्जरा भी भूतकाल में ग्रहण किये हुए कर्मों की होती है, वर्तमान या भविष्यकालीन कर्मों की नहीं होती। यह चार सूत्र हुए। आगे कर्म-अधिकार से आठ सूत्र कहे जाते हैं।

पहला प्रश्न है—भगवन् ! नारकी जीव चलित कर्म बाँधता है या अचलित कर्म बाँधता है ?

इस प्रश्न का उत्तर है—गौतम ! नारकी जीव अचलित कर्म का बाँध करता है, चलित कर्म का बाँध नहीं करता।

यहाँ यह जिज्ञासा हो सकती है कि जो अचलित है, उसका बाँधना क्या ? जो गाय बाँधी है, वह तो बाँधी है ही। उसका बाँधना क्या ? बाँधना तो उसे पड़ता है जो छूटी हो। इसी प्रकार जो कर्म अचलित हैं—स्थिर हैं, उन्हें क्या बाँधना ?

इसका समाधान करने से पहले यह जान लेना आवश्यक है कि चलित कर्म और अचलित कर्म की व्याख्या क्या है ?

गाय को एक बार बाँधने के लिए लाते हैं और एक बार बाहर निकालने ले जाते हैं। यद्यपि गाय दोनों अवस्थाओं में चलित है, लेकिन बाहर निकलती हुई गाय बाँधती है या बाँधने के लिए खूँटे पर आई हुई ? बाँधने के लिए खूँटे के पास आई हुई गाय बाँधी जाती है।

तो जीव के प्रदेश से जो कर्म चलायमान हो गये, उन्हें जीव नहीं बाँधता, क्योंकि वे ठहरने वाले नहीं हैं। ऐसे कर्म चलित कहलाते हैं। इससे विपरीत कर्म अचलित कहे जाते हैं।

व्याख्यान समा में एक भाई आ रहा है और एक जा रहा है। एक भाई यहाँ सब को यथास्थान बैठाने वाला है। बैठाने वाला भाई उसी को बिठलाएगा जो बैठने के लिए आया है। जो जा रहा है उसके बैठने के लिए व्यवस्था करने की क्या आवश्यकता है ? जो रहा है और जो आ रहा है, दोनों ही चलित जान पड़ते हैं, लेकिन आने वाला बैठने के लिए आया है, अतएव वह स्थिर है और जाने वाला चलित है।

यही बात कर्म के सम्बन्ध में है। जीव आने वाले कर्मों को बाँधता है या जाने वाले कर्मों को ? इसका उत्तर दिया गया है—आने वाले अर्थात् आये हुए कर्मों को। शास्त्रीय परिभाषा में जाने वाले—अर्थात् जो कर्म जीव-प्रदेश में नहीं रहने वाले हैं उन-कर्मों को चलित कहते हैं और उनसे विप-

रीत को अचलित कहते हैं। इसी आधार पर गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से प्रश्न किया कि जीव चलित कर्म बाँधता है अथवा अचलित कर्म बाँधता है ? भगवान् ने उत्तर दिया-जीव अचलित कर्म बाँधता है, चलित नहीं।

दूसरा प्रश्न है-भगवन् ! नरक के जीव चलित कर्म की उद्दीरणा करते हैं या अचलित कर्म की ?

इसका उत्तर भगवान् ने यह फरमाया है कि नारकी अचलित कर्म की उद्दीरणा करते हैं।

जो कर्म चलित है, वह तो आप ही चलायमान हो रहा है, उसकी उद्दीरणा क्या होगी ! जो मनुष्य स्वयं जा रहा है उसको बाहर निकालना ही क्या ! बाहर तो वही निकाला जायगा जो बैठने की चेष्टा कर रहा हो या बैठा हो। जो बैठा हो उसे निकालने की चेष्टा करना ही उद्दीरणा है। अर्थात् कर्मों को उनके जाने के नियत समय से पहले ही भगा देना उद्दीरणा कहलाती है। अतएव उद्दीरणा अचलित कर्म की ही होती है, चलित की नहीं।

तीसरा प्रश्न है-वेदना चलित कर्म की होती है या अचलित कर्म की ? इस प्रश्न का उत्तर भी यही है कि अचलित कर्म की वेदना होती है, चलित कर्म की नहीं।

तात्पर्य यह है कि जो कर्म जीव-प्रदेश से चलित हो गया है, वह जीव को अपना फल देने में समर्थ नहीं हो सकता। जो जहाँ स्थित नहीं है, वह वहाँ फल भी उत्पन्न नहीं कर सकता।

चौथा प्रश्न है—तीव्र रस कामंद रस आदि अचलित कर्म का होता है या चलित कर्म का ? इस प्रश्न का भी वही उत्तर है कि अचलित कर्म का होता है, चलित का नहीं ।

इसी प्रकार पाँचवाँ प्रश्न संक्रमण का, छठा निघत्त का और सातवाँ निकाचित का है । इन सब प्रश्नों का उत्तर एक ही है—अचलित कर्म का ही संक्रमण, निघत्तन, और निकाचन होता है ।

आठवाँ प्रश्न निर्जरा के संबंध में है । निर्जरा चलित कर्म की होती है, अचलित की नहीं । आत्मप्रदेशों से कर्म-पुद्गलों को हटा देना निर्जरा है । अचलित कर्म आत्मप्रदेश से हटते नहीं है, चलित कर्म ही हटते हैं । इसलिए निर्जरा चलित कर्म की होती है, अचलित कर्म की नहीं ।

इन आठ प्रश्नों की संग्रह-गाथा में यही बात कही गई है । बंध-उदय, वेदना, उंदीरणा, अपवर्त्तन, संक्रमण, निघत्त और निकाचित, इन सात प्रश्नों में अचलित कर्म कहना चाहिए और आठवें प्रश्न-निर्जरा में चलित कर्म कहना चाहिए ।





मूलपाठ—

प्रश्न—असुरकुमाराणं भंते ! केवइयं कालं
ठिई परणत्ता ?

उत्तर—गोयमा ! जहण्णेणं दस वास-
सहस्साइं, उक्कोसेणं सातिरेगं सागरोवमं ।

प्रश्न—असुरकुमाराणं भंते ! केवइकालस्स
आणमंति वा, पाणमंति वा ?

उत्तर—गोयमा ! जहण्णेणं सत्तरहं थोवाणं,
उक्कोसेणं साइरेगस्स पक्खस्स आणमंति वा,
पाणमंति वा ।

प्रश्न—असुरकुमारा एं भंते ! आहारट्टी ?

उत्तर—हंता, आहारत्ती ।

प्रश्न—असुरकुमाराणं भंते ! केवइकालस्स आहारट्टे समुप्पज्जइ ?

उत्तर—गोयमा ! असुरकुमाराणं दुविहे आहारे पन्नत्ते; तंजहा-आभोगनिव्वत्तिए, अणा-भोगनिव्वत्तिए । तत्थ एं जे से अणाभोगनिव्वत्तिए से अणुसमयं अविरहिए आहारट्टे समुप्पज्जइ । गोयमा ! तत्थ एं जे से आभोगनिव्वत्तिए से जहण्णेणं चउत्थभत्तस्स, उक्कोसेणं साइरेगस्स वाससहस्सस्स आहारट्टे समुप्पज्जइ ।

प्रश्न—असुरकुमारा एं भंते ! किं आहारं आहारेंति ?

उत्तर—गोयमा ! दव्वओ अणंतपणसि-आइं दव्वाइं, खित्त-काल-भाव-पन्नवणागमेणं । सेसं जहा नेरइयाणं जाव ।

प्रश्न—ते एं तेसिं पोग्गला कीसत्ताए
भुज्जो भुज्जो परिणमंति ?

उत्तर—गोयमा ! सोइंदियत्ताए, सुरू-
वत्ताए सुवणत्ताए, इट्ठत्ताए, इच्छियत्ताए,
भिज्जियत्ताए, उड्ढत्ताए, एो अहत्ताए, सुहत्ताए
एो दुहत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमंति ।

प्रश्न-असुरकुमाराणं पुवाहारिया पोग्गला
परिणया ?

उत्तर—असुरकुमाराभिलावेण जहा नेर-
इयाणं, जाव चलिअं कम्मं निज्जरंति ।

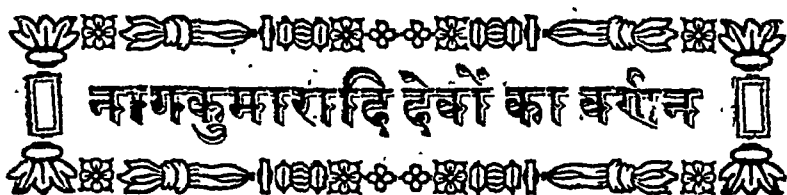
संस्कृत-छाया-प्रश्न—असुरकुमाराणां भगवन् ! कियत्कालं
स्थितिः प्रज्ञप्ता ?

उत्तर—गौतम ! जघन्येन दश वर्षसहस्राणि, उक्कष्टेन सातिरेकं
सागरोपमम् ।

प्रश्न—असुरकुमारा भगवन् ! कियत्कालेन आनमन्ति वा
प्राणमन्ति वा ?

उत्तर--गौतम ! असुरकुमार के अभिलाष से अर्थात् नारकी के स्थान पर असुरकुमार शब्द का प्रयोग करते हुए, यह सब नारकियों के समान ही समझना चाहिए । यावत् चलित कर्म की निर्जरा करते हैं ।





मूलपाठ—

प्रश्न-नागकुमाराणं भंते ! केवइयंकालं
ठिई परणत्ता ?

उत्तर-गोयमा ! जहणणेणं दस वाससह-
स्साइं, उक्कोसेणं देसूणाइं दो पलिओवमाइं ।

प्रश्न-नागकुमारा णं भंते ! केवइकालस्स
आणमंति वा ? ४

उत्तर—गोयमा । जहणणेणं सत्तण्हं
थोवाणं, उक्कोसेणं मुहुत्तपुहुत्तस्स आणमंति
वा ४ ।

प्रश्न—नागकुमारा एं आहारद्वी ?

उत्तर—हंता, आहारद्वी ।

प्रश्न—नागकुमाराणं भंते ! केवइकाल-
स्स आहारद्वे समुप्पज्जइ ?

उत्तर—गोयमा ! नागकुमाराणं दुविहे
आहारे पणत्ते । तंजहा-आभोगनिवत्तिए, अणा-
भोगनिवत्तिए य । तत्थ एं जे से अणाभोग-
निवत्तिए से अणुसमयं अविरहिए आहारद्वे
समुप्पज्जइ । तत्थ एं जे से आभोगनिवत्तिए
से जहरणेणं चउत्थभत्तस्स, उक्कोसेणं दिवसपु-
हुत्तस्स आहारद्वे समुप्पज्जइ । सेसं जहा असुर-
कुमाराणं, जाव नो अचलियं कम्मं निज्जरंति,
एवं सुवन्नकुमाराणं वि, जाव थाणियकुमाराणं ति ।

संस्कृत-छाया-प्रश्न-नागकुमाराणां भगवन् ! कियत्कालं
स्थितिः प्रज्ञता ?

उत्तर-गौतम ! जघन्येन दश वर्षं सहस्राणि, उत्कृष्टेन देशोने
द्वे पत्न्योपमे ।

प्रश्न—बेडंदिया एं भंते ! जे पोग्गले
आहारत्ताए गेण्हंति, ते किं सव्वे आहारंति,
एणे सव्वे आहारंति ?

उत्तर—गोयमा बेडंदियाणं दुविहे आहारं
पन्नत्ते; तंजहा-लोमाहारे पक्खेवाहारे य । जे
पोग्गले लोमाहारत्ताए गिण्हंति ते सव्वे अपरि-
सेसए आहारंति । जे पक्खेवाहारत्ताए गिण्हंति
तेसि एं पोग्गलाणं असंखेज्जइभागं आहारंति,
अणोगाइं च एं भागसहस्साइं अणासाइज्जमा-
णाइं, अफासाइज्जमाणाइं, विद्धंसं आगच्छंति ।

प्रश्न—एएसि एं भंते ! पोग्गलाणं
अणासाइज्जमाणाणं अफासाइज्जमाणाणं य
कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा, बहुया वा, तुल्ला
वा विसेसाहिया वा ?

उत्तर—सव्वत्थोवा पुग्गला अणासाइ-
ज्जमाणा, अफासाइज्जमाणा अणंतगुणा ।

प्रश्न—वेइंदिया एं भंते ! जे पोग्गले,
आहारत्ताए गिणहंति, ते एं तेसिं पुग्गला कीस-
त्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमंति ?

उत्तर—गोयमा ! जिब्भिदिय-फासिदिय-
वेमायत्ताए भुज्जो-भुज्जो परिणमंति ।

प्रश्न—वेइंदियाणं भंते ! पुब्बाहारिया
पोग्गला परिणया ?

उत्तर—तहेव, जाव चलिअं कम्मं
निज्जरंति ।

संस्कृत-व्याख्या—द्वीन्द्रियाणां स्थितिर्भणित्वा उच्छ्वासो
विमात्रया ।

प्रश्न—द्वीन्द्रियाणामाहारे पृच्छा ?

उत्तर—अनाभोगनिर्वर्तितस्तथैव । तत्र योऽसावाभोगनिर्वर्तितः

सोऽसंख्येयसमयिक आन्तर्माहूर्तिकः विमात्रया आहारार्थः समुत्पद्यते।
शेषं तथैव यावद् अनन्तभागमास्वादयन्ति ।

प्रश्न—द्वीन्द्रिया भगवन् ! यान् पुद्गलान् आहारतया गृह्णन्ति, तान् किं सर्वान् आहरन्ति, नो सर्वानाहरन्ति ?

उत्तर—गौतम ! द्वौन्द्रियेण द्विविध आहारः प्रज्ञतः तद्यथा-लोमाहारः प्रक्षेपाहारश्च । यान् पुद्गलान् लोमाहारतया गृह्णन्ति तान् सर्वान् अपरिशेषितान् आहरन्ति । यान् प्रक्षेपाहारतया गृह्णन्ति तेषां पुद्गलानामसंख्येयभागमाहरन्ति, अनेकानि च भागसहस्राणि अनास्वाद्यमानानि, अस्पर्श्यमानानि विध्वंसमागच्छन्ति ।

प्रश्न—एतेषां भगवन् ! पुद्गलानां अनास्वाद्यमानानां अस्पर्श्यमानानां च कतरे कतरेभ्योऽल्पा वा, बहुका वा, तुल्या वा विशेषाधिका वा ?

उत्तर—गौतम ! सर्वस्तोकाः पुद्गला अनास्वाद्यमाना अस्पर्श्यमाना अनन्तगुणाः ।

प्रश्न—द्वीन्द्रिया भगवन् ! यान् पुद्गलान् आहारतया गृह्णन्ति, ते तेषां पुद्गलाः कीदृशतया भूयो भूयः परिणमन्ति ?

उत्तर—गौतम ! जिह्वेन्द्रिय स्पर्शेन्द्रियविमात्रया भूयो भूयः परिणमन्ति ।

प्रश्न—द्वीन्द्रियाणां भगवन् ! पूर्वाहताः पुद्गलाः परिणताः ?

उत्तर—तथैव, यावत् चकितं कर्म निर्जरयन्ति ।

मूलार्थ—दो-इन्द्रिय जीवों की स्थिति कहकर उन का विमात्रा से-अनियत-श्वासोच्छ्वास कहना चाहिए ।

तत्पश्चात् द्वीन्द्रिय जीव के आहार का प्रश्न होता है कि-भगवन् ! द्वीन्द्रिय जीव को कितने काल में आहार की अभिलाषा होती है ?

उत्तर—अनाभोगनिर्वर्त्तित आहार पहले के ही समान समझना चाहिए । जो आभोगनिर्वर्त्तित आहार है वह द्वीन्द्रिय जीवों का दो प्रकार का है-रोमाहार (रोमों द्वारा खींचा जाने वाला आहार) और प्रक्षेपाहार (कौर करके-मुँह में डालकर किया जाने वाला आहार) जो पुद्गल रोमाहार के रूप में ग्रहण किये जाते हैं, उन सब के सब का आहार होता है; और जो पुद्गल प्रक्षेपाहार के रूप में ग्रहण किये जाते हैं, उनमें से असंख्यातवाँ भाग खाया जाता है, शेष अनेक हजार भाग विना आस्वाद के और विना स्पर्श के ही नष्ट हो जाते हैं ।

प्रश्न—भगवन् ! नहीं आस्वादन किये जाने वाले और नहीं स्पर्श किये जाने वाले पुद्गलों में से कौन-किससे अल्प है, बहुत है, तुल्य है या विशेषाधिक है ? अर्थात् जो पुद्गल आस्वाद में नहीं आये, वे अधिक हैं, या जो स्पर्श में नहीं आये वे अधिक हैं ?

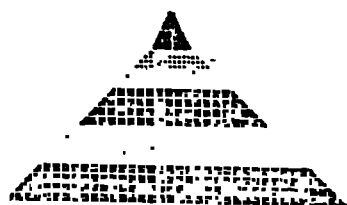
उत्तर—गौतम ! आस्वाद में नहीं आने वाले पुद्गल सब से कम हैं और स्पर्श में नहीं आये हुए पुद्गल उनसे अनन्तगुने हैं ।

प्रश्न—भगवन् ! द्वीन्द्रिय जीव जिन पुद्गलों को आहार रूप में ग्रहण करते हैं, वे पुद्गल किस रूप में पलटते हैं ?

उत्तर—गौतम ! जिह्वा इन्द्रिय और स्पर्शेन्द्रिय के रूप में पलट जाते हैं ।

प्रश्न—भगवन् ! द्वीन्द्रिय जीव द्वारा पहले ग्रहण किये हुए पुद्गल परिणत हुए-पलटे-हैं ?

उत्तर—यह सब वक्तव्य पहले की भाँति ही समझना । यावत् चलित कर्म की निर्जरा होती है ।





मूलपाठ —

तेइंदिय-चउरिंदियाणं एणत्तं ठिइए,
 जाव एेगाइं च एं भागसहस्साइं अणाघाइज्ज-
 माणाइं, अणासाइज्जमाणाइं, अफासाइज्जमा-
 णाइं विद्धंसं आगच्छन्ति ।

प्रश्न—एएसिं एं भंते ! पोग्गलाणं
 अणाघाइज्जमाणाणं ३ पुच्छा ?

उत्तर—गोयमा ! सब्बथोवा पोग्गला
 अणाघाइज्जमाणा, अणासाइज्जमाणा अणंतगुणा,
 अफासाइज्जमाणा अणंतगुणा, तेइंदियाणं

**घ्राणिन्द्रिय-जिह्विन्द्रिय-फासिन्द्रिय-वेमायाए भुज्जो
भुज्जो परिणमन्ति ।**

संस्कृत-छाया-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियाणां नानात्वं स्थितौ यावत्
अनेकानि च भागसहस्राणि अनाघ्रायमाणानि, अनास्वाद्यमानानि,
अस्पृश्यमानानि विध्वंसमागच्छन्ति ।

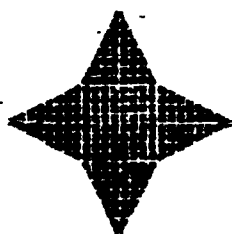
प्रश्न—एतेषां भगवन् ! पुद्गलानामनाघ्रायमाणानां ३ पृच्छा ।

उत्तर—गौतम ! सर्वस्तोका पुद्गला अनाघ्रायमाणाः, अना-
स्वाद्यमाना अनन्तगुणाः, अस्पृश्यमाना अनन्तगुणाः । त्रीन्द्रियाणां
घ्राणेन्द्रिय-जिह्वेन्द्रिय-स्पर्शेन्द्रियविमात्रया भूयो भूयः परिणमन्ति ।

सूत्रार्थ—तीन इन्द्रिय वाले और चार इन्द्रिय वाले
जीवों की स्थिति में भेद है, शेष सब पहले की भाँति है ।
यावत् अनेक हजार भाग बिना संघे, बिना चखे, बिना स्पर्श
ही नष्ट हो जाते हैं ।

प्रश्न—भगवन् ! इन नहीं संघे, नहीं चखे और नहीं
स्पर्श किये हुए पुद्गलों में कौन किससे थोड़ा, बहुत, तुल्य
या विशेषाधिक है ?

उत्तर---हे गौतम ! सब से कम नहीं सूंघे हुए पुद्गल हैं, उनसे अनन्तगुने नहीं चखे हुए और उनसे अनन्तगुने नहीं स्पर्श किये हुए पुद्गल हैं । तीन इन्द्रिय वाले जीवों द्वारा खाया हुआ आहार घ्राणेन्द्रिय के रूप में, जिह्वा इन्द्रिय के रूप में और स्पर्श-इन्द्रिय के रूप में बार-बार परिणत होता है । चार इन्द्रिय वाले जीवों द्वारा खाया हुआ आहार आँख, नाक, जीभ और स्पर्शनेन्द्रिय के रूप में बार-बार परिणत होता है ।



पञ्चेन्द्रियतिर्य्यक्-तथा-मनुष्य
आदि का वर्णन



मूलपाठ—

पंचिन्द्रियतिरिक्खजोणियाणं ढिई भणिऊणं
उस्सासो वेमायाए । आहारो अणाभोगनिव्वत्तिओ
अणुसमयं अविरहिओ, आभोगनिव्वत्तिओ
जहण्णेणं अंतोमुहुत्तस्स, उक्कोसेणं छट्ठमत्तस्स ।
सेसं जहा चउरिंदियाणं, जाव-चलियं कम्मं
णिज्जरेति ।

एवं मणुस्साण वि, णवरं-आभोगनिव्व-
त्तिए जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं अट्ठमत्त-
स्स । सोइंदियवेमायत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमंति ।
सेसं जहा तहेव जाव-निज्जरेति ।

संस्कृत--छाया-- पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकानां स्थितिर्भणित्वा उच्छ्वासो विमात्रया । आहारोऽनाभोगनिर्वर्तितोऽनुसमयमविरहितः, आभोगनिर्वर्तितो जघन्येन अन्तर्मुहूर्त्तेन, उत्कृष्टेन षष्ठभक्तेन शेषं यथा चतुरिन्द्रियाणाम् । यावत्-चलितं कर्म निर्जरयन्ति ।

एवं मनुष्याणामपि, नवरम् आभोगनिर्वर्तितो जघन्येन अन्तर्मुहूर्त्तेन, उत्कृष्टेन अष्टमभक्तेन । श्रोत्रेन्द्रियविमात्रतया भूयो भूयः परिणमन्ति । शेषं यथा तथैव यावत्-निर्जरयन्ति ।

मूलार्थ—पाँच इन्द्रिय वाले तिर्यञ्चों की स्थिति कह कर उनका आहार विमात्रा से-विविध प्रकार से-(कहना चाहिए) । अनाभोगनिर्वर्तित आहार प्रतिसमय निरन्तर होता है । आभोगनिर्वर्तित आहार जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त में और उत्कृष्ट षष्ठ भक्त (दो दिन व्यतीत हो जाने पर) होता है । शेष वक्रव्यता चतुरिन्द्रिय जीवों के समान समझना चाहिए । यावत् चलित कर्म की निर्जरा होती है ।

मनुष्यों के सम्बन्ध में भी ऐसा ही जानना चाहिए । विशेषता इतनी है कि उनका आभोगनिर्वर्तित आहार जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट अष्टम भक्त-तीन दिवस बीतने पर होता है । पञ्चेन्द्रियों द्वारा गृहीत आहार (पूर्वोक्त चार इन्द्रियों के अतिरिक्त) श्रोत्रेन्द्रिय के रूप में भी परिणत होता है । शेष सब पहले के समान समझना चाहिए, यावत्-चलित कर्म की निर्जरा करते हैं ।

काण-व्यन्तर आदि का वर्णान्न

मूलपाठ-

वाणमंतराणं ठिइए नाणत्वं । अवसेसं
जहा णागकुमाराणं । एवं जोइसियाण वि,
एवरं उस्सासो जहणणेणं मुहुत्तपुहुत्तस्स । आहारो
जहणणेणं दिवसपुहुत्तस्स, उकोसेण वि दिवस-
पुहुत्तस्स । सेसं तहेव ।

वेमाणियाणं ठिई भाणियन्वा ओहिया ।
ऊसासो जहणणेणं मुहुत्तपुहुत्तस्स, उकोसेणं
तेत्तीसाए पक्खाणं । आहारो आभोगनिवत्तिओ
जहणणेणं दिवसपुहुत्तस्स, उकोसेणं तेत्तीसाए
वाससहस्साणं । सेसं चलियाइयं तहेव निज्जरावेति

संस्कृतं छाया-वानव्यन्तराणां स्थितौ नानात्वम्, अवशेषं यथा नागकुमाराणाम् ।

एवं ज्योतिष्काणामपि, नवरं उच्छ्वासो जघन्येन मुहूर्त्तपृथक्त्वेन, उत्कृष्टेनापि मुहूर्त्तपृथक्त्वेन । अ हारो जघन्येन दिवसपृथक्त्वेन, उत्कृष्टेनापि दिवसपृथक्त्वेन । शेषं तथैव ।

वैमानिकानां स्थितिर्मणितव्या औधिकी । उच्छ्वासो जघन्येन मुहूर्त्तपृथक्त्वेन उत्कृष्टेन त्रयस्त्रिंशता पक्षैः, आहार आभोगनिर्वर्तितो जघन्येन दिवसपृथक्त्वेन, उत्कृष्टेन त्रयस्त्रिंशता वर्षसहस्रैः । शेषं चलि-
तादिकं तथैव निर्जरयन्ति ।

मूलार्थ—वाण-व्यन्तरदेवों की स्थिति में भेद है, शेष सब नागकुमारों के समान समझना चाहिए ।

यही ज्योतिषी देवों के संबंध में भी जानना चाहिए । विशेषतः यह है कि-ज्योतिषी देवों का उच्छ्वास-निश्वास जघन्य और उत्कृष्ट मुहूर्त्त-पृथक्त्व के बाद होता है; और आहार जघन्य एवं उत्कृष्ट से दिवस-पृथक्त्व के पश्चात् हुआ करता है । और सब बातें पहले के समान ही समझनी चाहिए ।

वैमानिकों की स्थिति औधिकी (सामान्य) कहनी चाहिए । उनका उच्छ्वास जघन्य मुहूर्त्त-पृथक्त्व और उत्कृष्ट तेतीस पक्ष के पश्चात् होता है । उनका आभोग-

निर्वर्तित आहार जघन्य दिवसपृथक्त्व के बाद और उत्कृष्ट तेतीस हजार वर्ष बाद होता है। चलित कर्म की निर्जरा होती है, इत्यादि शेष सब पूर्ववत् ही समझना चाहिए।

व्याख्यान—ऊपर जो विविध प्रकार के जीवों का वर्णन दिया गया है, उसकी कुछ विशेष बातों पर टीकाकार ने प्रकाश डाला है।

असुर कुमार की उत्कृष्ट स्थिति एक सागरोपम से कुछ अधिक की कही गई है, सो बलि नामक असुरराज की अपेक्षा से है। चमरेन्द्र की आयु एक सागरोपम की ही है और बलिराज का आयुष्य, चमरेन्द्र के आयुष्य से कुछ अधिक है।

असुरकुमार का श्वासोच्छ्वास जघन्य सात स्तोक में बतलाया है, किन्तु स्तोक किसे कहते हैं, यह जान लेना आवश्यक है। टीकाकार कहते हैं—

हृडस्स अणवगल्लस्स निरुवकिट्ठस्स जंतुणो ।

एगे ऊसास नीसासे एस पाणुत्ति वुच्चइ ॥

सत्त पाणुणि से थोवे, सत्त थोवाणि से लवे ।

लवाणं सत्तहत्तरिए, एस मुहुत्ते वियाहिए ॥

स्तोक का परिमाण बतलाने के लिए श्वासोच्छ्वास से आरम्भ किया है; पर प्रत्येक जीव का श्वासोच्छ्वास समान कालीन नहीं होता, अतएव शास्त्र में कहा है कि इस गणना में मनुष्य का श्वासोच्छ्वास लेना चाहिए। वह मनुष्य

हृष्ट हो, बहुत बूढ़ा न हो, शोक-चिन्ता वाला न हो, रुग्ण न हो । ऐसे मनुष्य के एक श्वास और उच्छ्वास को प्राण कहते हैं । सात प्राण का एक स्तोक होता है । सात स्तोक का लव होता है और सतत्तर लव का एक मुहूर्त्त होता है ।

काल के लौकिक माप पराधीन हैं । आज घड़ी से काल का माप होता है, लेकिन घड़ी टूट जाय तो क्या किया जाएगा ? ज्ञानियों का कथन है कि प्रकृति स्वयं काल नापती है, उसे समझ लेना चाहिए । अनुयोग द्वार सूत्र में प्रकृति का माप सरसों आदि से बतलाया है ।

जो माप किसी और के आश्रित नहीं है, किन्तु प्रकृति के आश्रित है, वह लोकोत्तर माप है । दुनिया अपनी स्वतन्त्रता को त्याग कर परतंत्रता के माप में पड़ रही है, लेकिन अन्त में प्रकृति का आश्रय लेना ही पड़ता है ।

ऊपर मुहूर्त्त का परिमाण बतलाया गया है । तीस मुहूर्त्त का अहोरात्र और पंद्रह अहोरात्र का पक्ष (पखवाड़ा) होता है । एक मास में दो पक्ष होते हैं । ज्योतिष शास्त्र के अनुसार महीने में कम-ज्यादा दिन हो जाते हैं, इसलिए पक्ष में भी कम-ज्यादा होते हैं । आजकल संवत्सरी पर्व ज्योतिष के हिसाब से माना जाता है, इसी कारण कोई कभी और कोई कभी मनाता है, लेकिन शास्त्रकारों ने काल के माप के लिए पाँच संवत्सर अलग कर दिये हैं । शास्त्र में कहा है कि ७७ लव का एक मुहूर्त्त होता है, ३० मुहूर्त्त का एक दिन-रात होता है, १५ दिन-रात का एक पक्ष और ३० दिन-रात का एक मास होता है । इस काल-गणना में किसी प्रकार की गड़बड़ नहीं पड़ती ।

काल-गणना की अनेक विधियाँ प्रचलित हैं। अंगरेज लोग काल मापने के लिए ज्योतिष के सहारे नहीं रहे। उन्होंने अपनी तारीखें नियत कर ली हैं और चार वर्ष में एक दिन बढ़ा दिया है।

अगर हमारे यहां जीत व्यवहार से ऐसा कोई नियम बना दिया जाय तो संवत्सरी आदि में कोई अन्तर न रहे। प्रश्न होता है, नियम किस आधार पर बनाया जाय ? इसका उत्तर स्पष्ट है—७७ लव का एक मुहूर्त्त, ३० मुहूर्त्त का एक अहोरात्र, १५ अहोरात्र का एक पक्ष और दो पक्ष का एक मास होता है। दो मास की एक ऋतु, तीन ऋतु का एक अयन और दो अयन का एक संवत्सर होता है।

असुरकुमार का आहार जघन्य चार भक्त में वताया है। चार भक्त का अर्थ—एक दिन आहार करे, फिर एक दिन और दो रात न खाकर तीसरे दिन खावे। इसे चतुर्थ भक्त कहते हैं। चतुर्थ भक्त उपवास की एक संज्ञा है।

नागकुमार की दो पल्योपम की स्थिति कही गई है। यह उत्तर-दिशा के नागकुमार की अपेक्षा से है। दक्षिण दिशा के नागकुमार की अपेक्षा डेढ़ पल्योपम की ही स्थिति है।

मुहूर्त्त पृथक्त्व का अर्थ है, ७७ लव बीतने पर एक मुहूर्त्त होता है और दो मुहूर्त्त से लेकर नौ मुहूर्त्त तक को मुहूर्त्त पृथक्त्व कहते हैं। दो से लेकर चौ तक की संख्या सिद्धान्त में पृथक्त्व कहलाती है।

असुरकुमार से लेकर स्तनितकुमार तक का वर्णन किया गया है। इनके बीच में किन-किन का समावेश है, यह बात इस संग्रह-गाथा से ज्ञात हो सकती है:—

असुरा नाग-सुवर्णा, विज्जु-अग्गी य दीव-उदही य ।
दिसि-वाळ थणिया वि य, दसभेया भवणवासीणं ॥

अर्थात्—भवनवासी देवों के दस भेद हैं—(१) असुर-कुमार (२) नागकुमार (३) सुवर्णकुमार (४) विद्युतकुमार (५) अग्निकुमार (६) द्वीपकुमार (७) उदधिकुमार (८) दिक्कुमार (९) वायुकुमार और (१०) स्तनितकुमार ।

एक दंडक नारकी जीवों का और दस दंडक भवनवासी देवों के; यह ग्यारह दंडक हुए । इसके पश्चात् एक दंडक पृथ्वीकाय के जीवों का आता है ।

पृथ्वीकायिक जीवों की आयु अन्तर्मुहूर्त्त की है। ऊपर जो परिमाण मुहूर्त्त का बतलाया गया है, उससे कुछ कम समय अन्तर्मुहूर्त्त कहलाता है। पृथ्वीकाय की उत्कृष्ट स्थिति २२ हजार वर्ष की, खर पृथ्वी की अपेक्षा से कही गई है। पृथ्वी के छह भेद हैं—

मण्ड य सुद्ध वालुय, मणोसिला सकरा य खर पुढवी ।
एगं वारस चोदस सोलस अट्टारस बावीस चि ।

पहली क्षिग्ध-सुहाली पृथ्वी है। इस की स्थिति एक हजार वर्ष की है। दूसरी शुद्ध पृथिवी की बारह हजार वर्ष

की स्थिति है। तीसरी वालुका पृथ्वी की चौदह हजार वर्ष की, चौथी मनःशिला पृथ्वी की सोलह हजार वर्ष की, पाँचवीं शर्करा पृथ्वी की अठारह हजार वर्ष की, और छठी खर पृथ्वी की बाईस हजार वर्ष की स्थिति है।

विमात्रा-आहार कहने से यह तात्पर्य है कि उसमें कोई मात्रा नहीं है। कोई कैसा आहार लेता है, कोई कैसा। पृथ्वीकाय के जीवों का रहन-सहन भिन्न-भिन्न और विविध है। इसलिए उनमें श्वास की भी मात्रा नहीं है कि कब-कितना लेते हैं। तात्पर्य यह है कि इनका श्वासेच्छ्वास विषम रूप है। उसकी मात्रा का निरूपण नहीं किया जा सकता।

शास्त्र सम्बन्धी वार्त्ता बड़ी आनन्ददात्री है। मगर जिसमें इस वार्त्ता का रस लेने का सामर्थ्य हो, वही आनन्द ले सकता है। आजकल हम लोगों का ज्ञान अत्यल्प है और जीवन में जंजाल बहुत है। अतएव हम लोग शास्त्र के रहस्य को भली भाँति समझ नहीं पाते। मगर आज जीवन कितना हो व्यस्त क्यों न हो, जिस समय शास्त्र का निर्माण हुआ, उस समय ऐसा जंजाल न था। इस कारण उस समय शास्त्र बड़े महत्व की दृष्टि से देखे जाते थे।

उक्त वर्णन से इस बात का भी भलीभाँति अनुमान किया जा सकता है कि जैन धर्म क्या है ? उसकी वारंकी और व्यापकता कहाँ तक जा पहुँची है ! एक छोटे से राज्य का राजा होता है, दूसरा बड़े राज्य का होता है। वासुदेव का भी राज्य है और चक्रवर्त्ती का भी। चक्रवर्त्ती का राज्य सबसे बड़ा गिना जाता है, क्योंकि उसके राज्य में सभी एक छत्र में आ जाते हैं। सब का एक छत्र के नीचे आ जाना, यही चक्रवर्त्ती का चक्रवर्त्तीपन है।

हम लोग तीर्थकरों की महिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं—‘प्रभो ! तू त्रिलोकीनाथ है ।’ अगर भगवान् त्रिलोकीनाथ हैं, तो उनके राज्य में तीनों लोक के जीवों का समावेश हो जाना चाहिए । फिर भले ही कोई छोटा हो या बड़ा हो । चक्रवर्ती मनुष्यों पर ही शासन करता है, लेकिन त्रिलोकीनाथ का छत्र तो चौबीस दण्डकों के जीवों के सिर पर है । उनका छत्र नारकी जीवों पर भी है । जैसे बड़ा राजा, अपने राज्य को प्रान्तों में विभक्त करता है, उसी प्रकार भगवान् ने अपना राज्य चौबीस दण्डक रूपी प्रान्तों में विभक्त किया है । इन दण्डकों में से पहला दण्डक नारकी का है । भगवान् ने नारकियों को सब से पहले याद किया है । मनुष्य के शरीर में भी पहले पाँच गिना जाता है, सिर नहीं । लोग पैर पूजना कहते हैं, सिर पूजना नहीं कहते । पैर का महत्व बढ़ने से सिर का महत्व आप ही बढ़ जाता है । भगवान् का राज्य तीनों लोकों में फैला है । उन्होंने नरक को भी एक प्रान्त बनाया है ।

यहां यह आशंका हो सकती है कि असुरकुमार आदि के, जो समीप ही हैं, दस दण्डक माने गये हैं और नारकी जीवों का एक ही । इसका क्या कारण है ? इस आशंका का समाधान यह है कि नारकी जीवों में इतनी अधिक उथल-पुथल नहीं होती; क्योंकि वे दुख में पड़े हैं । भवनवासी उथल-पुथल करते रहते हैं । इत्यादि कारणों से उनके दस दण्डक किये गये हैं * ।

* इस विषय में सूत्रों में कोई स्पष्टीकरण नहीं है किन्तु आचार्यों की धारणा ऐसी है कि नारकी में सातों नरक के नरयिक परस्पर

फिर प्रश्न होता है कि असुरकुमार के सिवा नौ भवनवासी समान ही हैं, फिर इनके अलग-अलग दंडक क्यों बताये गये हैं। एक ही दंडक क्यों न बता दिया ?

जिन भगवान् ने दंडक रूपी प्रान्त बनाये हैं, उन्हें इस विषय में अधिक ज्ञान था। हमें उनकी व्यवस्था पर ही निर्भर रहना चाहिए।

पृथ्वीकाय के जीवों का एक दण्डक है। पृथ्वीकाय के जीवों को यह मालूम नहीं है कि मैं पृथ्वी हूँ। लेकिन भगवान् कहते हैं कि जो खेल असुरकुमारों में हो रहा है, वही पृथ्वीकाय के जीवों में भी हो रहा है। जैन शास्त्रों में जैसा अनन्त विज्ञान भरा है, वैसा ज्ञान अन्यत्र देखने में नहीं आता।

भगवान् ने नरक के जीवों, असुरकुमार और पृथ्वीकाय के विषय में ७२ बातें कही हैं। इन जीवों के जितनी-जितनी इन्द्रियाँ हैं, उनका वर्णन भी किया गया। भगवान् की करुणा सभी जीवों पर समान है।

संलग्न है—इनके बीच में कोई दूसरे त्रस जीव नहीं हैं किन्तु भवनपति देवों में यह बात नहीं है, इनके बीच में व्याघात होने से इनके दंडक प्रथक २ माने हैं अर्थात् प्रथम नरक के १३ प्रतर और १२ अन्तर है। अन्तर में एक २ जाति के भवनपति रहते हैं और प्रतर में नेरिये रहते हैं परन्तु प्रथम नरक के नीचे के प्रतर से सातवीं नरक तक बीच में कोई भी नहीं होने से नेरयिकों का एक और दश जाति के भवनपतियों के दश दंडक (विभाग)—किये गये हैं—ऐसी पूर्वाचार्यों की धारणा है।

पृथ्वीकाय की ही तरह जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय का भी एक-एक दण्डक माना गया है। फिर इन्द्रिय, त्रिन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय का एक-एक दण्डक किया और एक दण्डक मनुष्य का किया है। चाहे मनुष्य किसी भी क्षेत्र का और किसी भी जाति का हो, सबका दण्डक एक ही है। मनुष्य के दण्डक के बाद वान-व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक का दण्डक गिना गया है।

देव और असुर-दो योनियां हैं। देव में ज्योतिष्क और वैमानिक गिने जाते हैं और असुर योनि में असुरकुमार आदि गिने जाते हैं। देवों में इतने भगड़े नहीं होते, जितने असुरों में होते हैं। भगवान् ने असुरकुमार आदि दस के दस दण्डक गिनाये और देवों का एक ही दण्डक गिना। यह त्रिलोकीनाथ का राज्य है।

पृथ्वीकायिक जीवों के आहार के विषय में कहा गया है कि अगर व्याघात न हो तो उनका आहार छहों दिशाओं से होता है। यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि व्याघात किसे कहते हैं ?

लोक के अन्त में, जहाँ लोक और अलोक की सीमा मिलती है, वहाँ व्याघात होना संभव है। जहाँ व्याघात नहीं है वहाँ छहों दिशा का आहार लेते हैं, जहाँ व्याघात हो वहाँ तीन, चार या पाँच दिशा से आहार लेते हैं। तात्पर्य यह है कि लोक के अन्त में, कोने के ऊपर रहा हुआ पृथ्वीकाय का जीव तीन, चार या पाँच दिशाओं से आहार ग्रहण करता है। जब तीन दिशाएँ अलोक में दब जाती हैं—तीन तरफ अलोक आ जाता है, तब तीन दिशा से आहार लेते हैं। जब दो

दिशाएँ अलोक में दब जाती हैं तब चार दिशा का और जब एक दिशा अलोक में दब जाती है तब पाँच दिशाओं से आहार लेते हैं। मतलब यह कि जो दिशा अलोक में दब जाती है, उसका आहार नहीं लेते।

पृथ्वीकाय के जीवों के एकमात्र स्पर्शनेन्द्रिय ही होती है। उन्हें रसेन्द्रिय नहीं है। जिसके रसेन्द्रिय है वह उसके द्वारा आहार ग्रहण करके स्वाद लेता है, मगर यह बात इनमें नहीं पाई जाती। इस लिए यह जीव स्पर्शनेन्द्रिय से ही आहार ग्रहण करके उसका आस्वादन करते हैं। इनका यह स्पर्श भी एक प्रकार का आस्वादन है।

पाँच स्थावरों की स्थिति में अपूकाय की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की है और उत्कृष्ट सात हजार वर्ष की है। अश्लिकाय के जीवों की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट तीन दिन की है। वायुकाय की उत्कृष्ट स्थिति तीन हजार वर्ष की, वनस्पतिकाय की दस हजार वर्ष की और पृथ्वीकाय की बाईस हजार वर्ष की स्थिति है। इस प्रकार इन सब की स्थिति है।

दो इन्द्रिय की स्थिति उत्कृष्ट बारह वर्ष की और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की है। दो इन्द्रिय वाले जीवों को आभोग-आहार की इच्छा असंख्यात समय बाद होती है। असंख्यात समय कितना लेना चाहिए, यह बताने के लिए अन्तर्मुहूर्त्त का असंख्यात समय ग्रहण किया गया है। द्वीन्द्रिय जीवों के आहार का कोई निश्चित नियम नहीं है, अतएव वह विमात्रा से कहा गया है।

इन जीवों का आभोग आहार रोम द्वारा भी होता है । जब वर्षा होती है तब रोमों द्वारा शीत आप ही आजाता है । वह रोमाहार कहलाता है ।

द्वीन्द्रिय जीवों के आभोग-आहार के विषय में यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि वे रोम द्वारा गृहीत आहार को पूर्ण रूप से खा जाते हैं और प्रक्षेपाहार का बहुत-सा भाग नष्ट हो जाता है और असंख्यातवाँ भाग शरीर रूप में परिणत होता है । इस कथन के आधार पर यह प्रश्न किया गया है कि जो पुद्गल स्पर्श में तथा आस्वाद में आये बिना ही नष्ट हो जाते हैं, उनमें कौन से अधिक हैं ? अर्थात् स्पर्श में न आने वाले पुद्गल अधिक हैं या आस्वाद में न आने वाले ? इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि आस्वाद में न आने वाले पुद्गल थोड़े हैं और स्पर्श न किये जाने वाले पुद्गल अनन्तगुण हैं ।

त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवों की स्थिति में अन्तर है । त्रीन्द्रिय जीवों की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट ४६ रात-दिन की है । चौद्विन्द्रिय जीवों की जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट छह मास की है । आहार आदि में जो अन्तर है, वह पहले बतलाया जा चुका है ।

पंचेन्द्रिय तिर्यच का आहार पृष्ठभक्त अर्थात् दो दिन बीत जाने पर बतलाया गया है । यह आहार देवकुरु और उत्तर कुरु के युगलिक तिर्यचों की अपेक्षा कहा गया है । इसी प्रकार मनुष्यों का जो अष्टमभक्त अर्थात् तीन दिन बाद आहार कहा है, वह भी देवकुरु, उत्तरकुरु के युगलिक मनुष्यों की अथवा भरतादि में जब प्रथम आरा प्रारम्भ होता

प्रकृति ने इसे कैद कर रक्खा है, मगर यदि प्रकृति के रोकने से यह शरीर में रुका रहता है और कर्त्ता नहीं है तो उसे मुक्ति कैसे प्राप्त हो सकती है ? इसके अतिरिक्त जड़ प्रकृति को तो कर्त्ता माना जाय और चेतन आत्मा को अकर्त्ता कहा जाय, यह कहाँ तक तर्क संगत हो सकता है !

अब यह कहा जा सकता है कि आपके (जैन) मत में आत्मा रूपी है या अरूपी ? रूपी तो आप स्वीकार नहीं करते । अगर अरूपी है और ज्ञानवान् भी है तो वह अज्ञान के कार्य क्यों करता है ? इसका उत्तर यह है कि आत्मा स्वभाव से अरूपी होते हुए भी प्रकृति के साथ लगा हुआ है । आत्मा अनादि काल से है और अनादि काल से ही कर्मों के साथ उसका संयोग हो रहा है । कर्मों के साथ एकमेक हो जाने के कारण संसारी आत्मा कथञ्चित् रूपी बना हुआ है और अपने असली स्वरूप को भूल गया है । वास्तव में आत्मा ही कर्त्ता है । वही सब क्रियाएँ करता है आत्मा शरीर में रहने वाला देही है और शरीर, देह है । आत्मा के दो देह हैं । एक सूक्ष्म, दूसरा स्थूल । स्थूल देह जब छूट जाता है, तब भी सूक्ष्म देह आत्मा के साथ बना रहता है । सूक्ष्म शरीर के साथ रहने से ही आत्मा बार-बार जन्म-मरण करता है । जन्म-मरण का यह कारण जब मिट जाता है तब जन्म-मरण भी मिट जाता है । जन्म-मरण का कारण क्या है, यही वर्णन अब भगवती सूत्र में आता है ।



आत्मारम्भ परारम्भ आदिका वर्णन

मूलपाठ-

प्रश्न—जीवाणं भंते ! किं आयारंभा,
परारंभा, तदुभयारंभा, अणारंभा ?

उत्तर—गोयमा ! अत्थेगइया जीवा आया-
रंभा वि, परारंभा वि, तदुभयारंभा; णो अणारंभा ।
अत्थेगइया जीवा णो आयारंभा, नो परारंभा,
नो तदुभयारंभा, अनारंभा ।

प्रश्न—से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ,
' अत्थेगइया जीवा आयारंभा वि ' एवं पडि-
उच्चारेयव्वं ?

उत्तर—गोयमा ! जीवा दुविहा पणत्ता,
तंजहा-संसारसमावणगा य, असंसारसमा-
वणगा य । तत्थ एं जे ते असंसारसमा-
वणगा ते णं सिद्धा, सिद्धा एं नो आयारंभा
३ जाव-अणारंभा । तत्थ एं जे ते संसार-
समावणगा ते दुविहा पणत्ता, तं जहा-
संजया य, असंजया य । तत्थ णं जे ते संजया
ते दुविहा पणत्ता, तं जहा-पमत्तसंजया य,
अप्पमत्तसंजया य । तत्थ एं जे ते अप्पमत्त-
संजया ते णं नो आयारंभा, नो परारंभा, जाव-
अणारंभा । तत्थ एं जे ते पमत्तसंजया ते सुहं
जोगं पडुच्च नो आयारंभा, नो परारंभा, जाव
अणारंभा । असुभं जोगं पडुच्च आणारंभा वि,
जाव-णो अणारंभा । तत्थ णं जे ते असंजया
ते अविरतिं पडुच्च आयारंभा वि जाव नो
अणारंभा । से तेणट्ठेणं गोयमा । एवं वुच्चइ
‘अत्थेगइया जीवा जाव अणारंभा’ ।

संस्कृत आया—प्रश्न—जीवा भगवन् ! किमात्मारम्भाः, परारम्भाः, तदुभयारम्भाः, अनारम्भाः ?

उत्तर—गौतम ! सन्त्येकका जीवा आत्मारम्भा अपि, परारम्भा अपि, तदुभयारम्भा अपि, नो अनारम्भाः । सन्त्येकका जीवा नो आत्मारम्भाः, नो परारम्भाः, नो उभयारम्भाः, अनारम्भाः ।

प्रश्न—तत् केनार्येन भगवन् ! एवमुच्यते—सन्त्येकका जीवा आत्मारम्भा अपि, 'एवं प्रत्युच्चारयितव्यम्' ?

उत्तर—गौतम ! जीवा द्विविधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—संसारसमापनकाश्च, असंसारसमापनकाश्च । तत्र ये ते असंसारसमापनकास्ते सिद्धाः, सिद्धा नो आत्मारम्भाः यावत् अनारम्भाः । तत्र ये ते संसारसमापनकास्ते द्विविधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—संयताश्च, असंयताश्च । तत्र ये ते संयतास्ते द्विविधाः प्रज्ञप्ताः । तद्यथा—प्रमत्तसंयताश्च, अप्रमत्तसंयताश्च । तत्र ये ते अप्रमत्तसंयतास्ते नो आत्मारम्भाः, नो परारम्भाः, यावत् अनारम्भाः । तत्र ये ते प्रमत्तसंयतास्ते शुभं योगं प्रतीत्य नो आत्मारम्भाः, नो परारम्भाः, यावत् अनारम्भाः । अशुभं योगं प्रतीत्य आत्मारम्भा अपि, यावत् नो अनारम्भाः । तत्र ये ते असंयतास्ते अविरतिं प्रतीत्य आत्मारम्भा अपि, यावत् नो अनारम्भाः । तत् तेनार्येन गौतम ! एवमुच्यते—'सन्त्येकका जीवा यावत् अनारम्भाः'

मूलार्थ—प्रश्न—भगवन् ! क्या जीव आत्मारंभ है, परारंभ है, उभयारंभ है, या अनारंभ हैं ?

उत्तर—गौतम ! कितनेक जीव आत्मारंभ भी हैं, परारंभ भी हैं और उभयारंभ भी हैं, पर अनारंभ नहीं हैं; तथा कुछ जीव आत्मारंभ नहीं हैं, परारंभ नहीं हैं, उभयारंभ नहीं हैं, पर अनारंभ हैं ।

प्रश्न—भगवन् ! इस प्रकार किस हेतु से कहते हैं कि ' कितनेक जीव आत्मारंभ भी हैं ', इत्यादिक पूर्वोक्त प्रश्न फिर से उच्चारण करना चाहिए ?

उत्तर—गौतम ! जीव दो प्रकार के कहे गये हैं । वे इस प्रकार—संसारसमापन्नक और असंसारसमापन्नक । उन में जो जीव असंसारसमापन्नक हैं, वे सिद्ध हैं और वे आत्मारंभ परारंभ या उभयारंभ नहीं हैं, पर अनारंभ हैं । उनमें से जो संसारसमापन्नक हैं, वे दो प्रकार के कहे गये हैं । वह इस प्रकार संयत और असंयत । उनमें जो संयत हैं; वे दो प्रकार के हैं । वह इस प्रकार—प्रमत्त संयत और अप्रमत्त संयत । उनमें जो अप्रमत्त संयत हैं वे आत्मारंभ, परारंभ या उभयारंभ नहीं हैं, पर अनारंभ हैं । उन में जो प्रमत्तसंयत हैं, वे शुभ योग की अपेक्षा आत्मारंभ, परारंभ यावत् उभयारंभ नहीं, पर अनारंभ हैं । और वे अशुभ योग की अपेक्षा आत्मारंभ भी हैं, यावत् अनारंभ नहीं हैं । और जो असंयत हैं, वे

अविरति की अपेक्षा से आत्मारंभ भी है, और यावत् अनारंभ नहीं है। इसलिए हे गौतम ! इस हेतु से ऐसा कहा जाता है कि 'कितनेक जीव आत्मारंभ भी हैं, यावत् अनारंभ भी हैं'।

व्याख्यान—गौतम स्वामी भगवान् से प्रश्न करते हैं—
भगवन् ! जीव आत्मारंभी हैं, परारंभी हैं, तदुभयारंभी अर्थात् आत्मारंभी और परारंभी हैं, या अनारंभी हैं ?

आरंभ शब्द अनेक अर्थों में प्रचलित है। किसी कार्य को शुरू करना भी आरंभ कहलाता है। लेकिन यहां यह अभिप्राय नहीं है। यहां आरंभ का अर्थ है—ऐसा सावध कार्य करना, जिससे किसी जीव को कष्ट पहुँचता हो, या उसके प्राणों का घात होता हो। अर्थात् आस्रव द्वार में प्रवृत्ति करना आरंभ कहलाता है।

आत्मारंभ के दो अर्थ हैं—आस्रवद्वार में आत्मा को प्रवृत्त करना और आत्मा द्वारा स्वयं आरम्भ करना। जो ऐसा करता है वह आत्मारंभी कहलाता है। दूसरे को आस्रव में प्रवृत्त करना या दूसरे के द्वारा आरंभ कराना परारंभ है और ऐसा करने वाला परारंभी कहलाता है। आत्मारंभ और परारंभ दोनों करने वाला उभयारंभी कहा जाता है। जो जीव, आत्मारंभ, परारंभ और उभयारंभ से रहित होता है, वह अनारंभी है। श्री गौतम स्वामी ने इसी संबंध में भगवान् से प्रश्न किये हैं।

गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान् फ़रमाते हैं—गौतम ! कई जीव ऐसे हैं जो, आत्मारंभी भी हैं, परारंभी भी हैं, उभयारंभी हैं, पर अनारंभी नहीं हैं । तथा कुछ जीव ऐसे भी हैं जो न आत्मारंभी हैं, न परारंभी हैं, न उभयारंभी हैं, किन्तु अनारंभी हैं ।

प्रश्न किया जा सकता है कि अगर आत्मा अरूपी है तो आरंभी कैसे हो सकता है ? अगर आत्मा अरूपी होते हुए भी आरंभी है तो सभी आरंभी होने चाहिए । कोई आरंभी और कोई अनारंभी, यह भेद किस कारण से है ?

इस प्रश्न का समाधान यह है कि जीव एक ही प्रकार के नहीं हैं । जीवों के मुख्य दो भेद हैं—एक संसारी अर्थात् जन्म-मरण करने वाले और दूसरे असंसारी अर्थात् जन्म-मरण से मुक्त-सिद्ध भगवान् ।

एक प्रश्न और हो सकता है कि संसार में से सिद्ध हुए हैं या सिद्धों में से संसारी जीव आये हैं ? यह दो भेद कब से बने हैं ? अगर दोनों भेद अनादिकाल से हैं तो सिद्ध, संसार में रहकर बने-हैं या संसार से बाहर रहकर ? अगर संसारी जीव पहले हैं और सिद्ध उन्हीं में से निकले हैं, तो जीव मूलतः एक ही प्रकार के हुए । अगर सिद्धों को अनादिकालीन माना जाय तो यह भी मानना पड़ेगा कि कोई जीव स्वभाव से निरंजन, निर्विकार हैं और कोई स्वभाव से संसारी होते हैं । ऐसा माने बिना दो भेद किस प्रकार हो सकते हैं ?

यह प्रश्न ऊपर से अटपटा जान पड़ता है, लेकिन

वास्तव में अटपटा नहीं है। ज्ञानी जनों का कथन है कि जीव अनादिकाल से, स्वभाव से, निश्चयनय की अपेक्षा असंसारी ही है, किन्तु कर्म-रूप उपाधि के संसर्ग से संसारी बना हुआ है यद्यपि जीवों के मौलिक स्वभाव में तनिक भी भेद नहीं है, मगर शुद्धि-अशुद्धि के कारण भेद हो गया है।

थोड़ी देर के लिए मान लिया जाय कि जीव अनादिकाल से असंसारी है, तो यह सवाल खड़ा होता है कि संसार कबसे है ?

‘ अनादिकाल से ! ’

जब संसार अनादिकाल से है, तो जीव कर्म नाश करने का उपाय भी तभी से कर रहा है, ऐसी स्थिति में सिद्ध जीव की आदि किस प्रकार होगी ? कल्पना कीजिए, एक नगर में दो मुहल्ले हैं। एक मुहल्ले के रहने वाले दूसरे मुहल्ले में गये हैं अब प्रश्न यह है कि शहर कब से है ?

‘ अनादि से ! ’

अगर नगर को अनादि से मानोगे तो दोनों मुहल्ले और एक मुहल्ले से दूसरे मुहल्ले में जाना अनादि से मानना पड़ेगा। ऐसा न मानने पर नगर को भी अनादि नहीं माना जा सकता।

कल का भविष्य काल पहले वर्तमान के रूप में आया; तब भूतकाल हुआ है। आगे के हजार, लाख और करोड़ वर्ष भी इसी प्रकार समझ लीजिए। लेकिन भूतकाल कितना बीता, इसकी कोई सीमा है ? ‘ नहीं ! ’

जब भूतकाल, कभी न कभी वर्तमान के रूप में रह चुका है, और वर्तमान के बाद ही भूतकाल बना है, तब उसे अनादि क्यों कहा जाता है ? इसलिए कि उसकी आदि का पता नहीं है । इसी प्रकार कोई भी जीव, विना संसारी अवस्था के सिद्ध नहीं हुआ है लेकिन कब से संसारी सिद्ध हो रहे हैं इस बात का पता नहीं लगाया जा सकता ।

तात्पर्य यह है कि जीव दो प्रकार के हैं—संसारी और असंसारी । संसारी जीव आत्मारंभी, परारंभी, उभयारंभी और अनारंभी भी हैं तथा असंसारी निरारंभी ही हैं । असंसारी किसी भी प्रकार का आरंभ नहीं करते । संसारी जीव आरंभ करते हैं, इसी कारण वे संसार में हैं और आरम्भ का सर्वथा परित्याग कर देने पर असंसारी हो जाते हैं ।

आजकल आरंभ का संकुचित अर्थ लिया जाता है, लेकिन शास्त्रकार का कथन है कि मन, वचन, काय के दुरे योग को भी आरम्भ कहते हैं ।

इस संबंध में बहुत-सी बातें हैं, मगर हमें गड़बड़ में न पड़कर यही देखना है कि मोक्ष कैसे हो सकता है ? वास्तव में आरंभ ही कर्म-बंध का कारण है । कर्मबंध रुक जाय और पूर्वसंचित कर्मों का क्षय हो जाय तो मुक्ति प्राप्त हो जाती है । गीता में भी कहा है—

सहजं कर्म कौन्तेय ! सदोषमपि न त्यजेत् ।

सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥

जैनदर्शन को चाहे जिस दर्शन से मिलाओ, इसकी छाया सभी दर्शनों में दिखेगी । गीता में कहा है—हे अर्जुन !

संसार में जितने भी आरम्भ हैं, वह सब कर्मबन्ध के कारण हैं। जैसे अग्नि और घूम का अविनाभाव सम्बन्ध है, उसी प्रकार आरम्भ और दोष का भी अविनाभाव है। जहाँ आरम्भ है, वहाँ कर्मबन्ध रूप दोष अवश्य होता है। आरम्भ ही दोष का कारण है। कारण हट जाने पर कार्य आप ही हट जाता है।

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि आरम्भ के बिना न खेती होती है, न व्यापार होता है, न श्वासोच्छ्वास ही लिया जा सकता है। ऐसी दशा में आरम्भ न करके क्या मर जाना चाहिए? इस सम्बन्ध में गीता का कथन है कि कर्म के दो भेद करना चाहिए—सहज कर्म और असहज कर्म।

जैन शास्त्रों में भी अल्पारम्भ और महारम्भ का विभाग किया है। बिना किञ्चित् आरम्भ के कोई जी नहीं सकता। कर्मभूमि अर्थात् आरम्भ का स्थान। कदाचित् अकर्मभूमि में कोई हो तो वह मोक्ष नहीं जा सकता। जब बिना आरम्भ के जीवन निभना कठिन है, तो शास्त्र कहता है कि आरम्भ के दो भेद कर लो—अल्पारम्भ और महारम्भ। इस अल्पारम्भ और महारम्भ को ही गीता में, कुछ भेद के साथ सहज-कर्म और असहज कर्म कहा है।

सहज कर्म और असहज कर्म में क्या अन्तर है, इसे समझिए। व्यापार करना कर्म है। लेकिन एक आदमी झूठ बोल कर व्यापार करता है और दूसरा झूठ बोले बिना करता है। व्यापार में झूठ का आश्रय न लेने वाला सहज कर्म करता है और झूठ का प्रयोग करने वाला असहज कर्म करता है।

इस प्रकार सहज कर्म और असहज कर्म का अर्थ अल्पारम्भ और महारम्भ लेना चाहिए ।

आज कई लोग अल्पारम्भ और महारम्भ का विवेचन करके एकदम निरारम्भी होने का उपदेश देते हैं । वे महारम्भ को त्यागने का उपदेश नहीं देते वरन् महारम्भ को छोड़े बिना ही निरारम्भी होने का उपदेश देते हैं । इसका परिणाम यह आ रहा है कि लोग निरारम्भी तो हो नहीं पाते, और महारम्भ में पड़े रहते हैं । गांधीजी ने आज जिस अहिंसा का उपदेश दिया है, वह यही है कि महारम्भ से बचो । महारम्भ से निकलते चालू अहिंसावादी ही माना जायगा ।

एक कपड़ा चरखे से बना हुआ है और एक मिल से बना हुआ होता है । चरखे से बने कपड़े में अल्पारम्भ है और मिल के बने कपड़े में महारम्भ है । अगर वस्त्र के बिना ही निर्वाह हो सके, तब तो दोनों ही प्रकार के आरम्भ उठ जायें, लेकिन वस्त्र के बिना नहीं रहा जाता, अतएव महारम्भ की जगह अल्पारम्भ से काम चलाना श्रेयस्कर है ।

तान्पर्य यह है कि अल्पारम्भ और महारम्भ, दो बातें हैं । नग्न रहना शक्य नहीं है, अतएव वस्त्र की आवश्यकता हुई । वस्त्र बिना आरम्भ के मिल नहीं सकते । ऐसी अवस्था में वस्त्र के लिए महारम्भ होने देना, या अल्पारम्भ से ही काम चलाना, इस विषय पर विवेक के साथ विचार करने की आवश्यकता है । कदाचित् आप का यह खयाल हो कि जैसे शालिभद्र के लिए स्वर्ग से पेटियाँ आती थीं, उसी प्रकार हम लोगों के लिए मैनचस्टर से गाँठें आती हैं और बिना आरम्भ किये ही हमें वस्त्र मिल जाते हैं । मगर आप को यह

भी ध्यान रखना चाहिए कि शालिभद्र ने उन चखों को भी बन्धन कारक समझ कर त्याग दिया था। उसने कहा था—यह चख हमें नीचे गिराने वाले हैं, ऊँचे चढ़ाने वाले नहीं। अतएव शालिभद्र ने स्वर्गीय चखों को त्याग कर, मुनि बन कर देश की खादी धारण की थी। यह विचारणीय है कि जब स्वर्ग के चख भी बन्धनकारक हैं तो मिल के चख, जो महारम्भ से बने हैं, अधोगति के कारण क्यों न होंगे।

मुझे मिलों से द्वेष नहीं है। अल्पारम्भ और महारम्भ की मीमांसा करना और आप को बतलाना मेरा कर्त्तव्य है। अगर नग्न न रह सके और अल्पारम्भी चख भी धारण न किये तो महारम्भ में पड़ना ही पड़ेगा।

कहा जा सकता है कि चख-चख सब समान हैं। कौन चख कहाँ बना है, इस पचड़े में पड़ने की हमें क्या आवश्यकता है? हमें तो तन ढँकने से प्रयोजन है। लेकिन अगर मांसभक्षी भी यह कहने लगे कि हमें तो पेट भरने से मतलब है। अन्न हो या मांस हो, हमें इस पचड़े में पड़ने की क्या आवश्यकता है? तो क्या उसका कहना ठीक होगा? अतएव चख-चख सब समान हैं यह समझना और अल्पारम्भ, महारम्भ का विचार न करना धर्मज्ञता का लक्षण नहीं है।

संसार का पतन असहज कर्म से हुआ है, सहज कर्म से नहीं हुआ। बालक, माता का दूध पीता है, यह सहज कर्म है और रक्त पीना असहज कर्म है। उचित यह समझा जाता है कि बड़ा होने पर बालक सहज कर्म दूध पीना भी छोड़ दे। लेकिन जब तक बड़ा नहीं हुआ है, तब तक रक्त पीने का असहज कर्म तो न करे।

बच्चा कभी माँ के स्तन में दाँत लगा देता है तो माँ उसे थप्पड़ मारती है। यह इसलिए कि बालक को माता का दूध पीने का अधिकार है, रक्त पीने का हक नहीं है। इसी प्रकार यह पृथ्वी माता है। इस पर दूध पीने के समान अधिकारमय कार्य जब तक होते रहें तब तक इसका सौन्दर्य नहीं बिगड़ा था, लेकिन खून पीने के समान महारम्भ के कार्यों से इसका सौन्दर्य नष्ट हो रहा है। कोयलों के लिए जंगल वीरान हो गये, जिससे अनेक हानियाँ हुईं। इसी प्रकार धुँए से प्रकृति बिगड़ी। इन सब के बदले मिला क्या? केवल तन ढँकने के लिए कपड़ा, जो चर्खे की बदौलत भी मिल सकता था।

खादी पहनने में जो क्रिया लगेगी वह खादी की ही लगेगी, मिल की नहीं लगेगी। मगर मिल के चक्कर पहनने से तो मिल की क्रिया लगेगी ही। हाथ से बनी खादी की क्रिया हल्की लगेगी और मिल की क्रिया भारी लगेगी। इसके अतिरिक्त मिलों के कारण मनुष्यों की आजीविका छिन रही है। मशीनें बहुत से मनुष्यों के बदले का काम कर डालती हैं और इससे मनुष्यों में बेकारी बढ़ती है और बेकारी बढ़ने से भुखमरी फैलती है। मनुष्यों का असली भोजन पैदा करने वाले लोग मिल के गुलाम बन जाते हैं और अपने जीवन को खो बैठते हैं। मिल के कपड़े के लिए लोग हाथ, पैर कटा बैठते हैं। उसमें लगने वाली चर्वी और चमड़े के लिए पशुओं की निर्दयता पूर्वक हत्या की जाती है। क्या आपको भी उन दीन आर सूक पशुओं पर दया नहीं आती? अगर आप इन जीवों को हिंसा पर विचार करेंगे तो आपको हाथ के और मिल के कपड़े का अन्तर साफ मालूम हो जायगा।

वस्त्र पहनने का उद्देश्य शरीर को शीत-ताप से बचाना है। यह उद्देश्य क्या खादी पहनने से सिद्ध नहीं होता ? रहा इज्जत का सवाल, सो आज जनता की मनोभावना में बहुत अन्तर पड़ गया है। अब खादी जिस आदर की दृष्टि से देखी जाती है, वह आदर चमकीले-भड़कीले वस्त्रों को भी नसीब नहीं है। ऐसी स्थिति में जो लोग खादी नहीं पहनते वे धर्म और इज्जत दोनों से हाथ धोते हैं।

महारम्म का त्याग करके अल्पारम्भी होना ही निरारम्भी होने का मार्ग है। आज महारम्म का त्याग करोगे तो कल अल्पारम्म को भी त्याग कर निरारम्भी हो सकोगे और अन्त में सिद्ध हो जाओगे।

आप लोग सन्देह ही सन्देह में पड़े रहते हैं। सुनते हैं, यूरॉपियन लोग जब तक न जानें, तब तक तो चाहे न करेंगे, मगर जान लेने पर करने में देरी नहीं लगाते। आप लोग समझते हैं, घुरे को घुरा जान लिया तो बस हो गया, मिथ्यात्व का पाप टल गया। लेकिन पर-खी को पर-खी समझते हुए कुकर्म करने वाला क्या पाप का भागी नहीं होता ? इसी प्रकार महारम्म और अल्पारम्म को जानते हुए भी अगर महारम्म को न छोड़ा तो यह जानना कैसा ! इस जानने का फल क्या है ?

एक गृहस्थ के घर में चोर घुसे। चोर जब घर में थे, तभी सेठानी की निद्रा भंग हो गई। सेठानी ने सेठजी को जगाया, सावधान किया और कहा—घर में चोर घुसे हैं, माल लिये जा रहे हैं। सेठजी ने उत्तर दिया—‘ठीक है, मालूम हो गया।’ सेठानी ने फिर सेठ को चेताया, मगर उत्तर वही—

‘जानता हूँ, मालूम है।’ अन्त में सेठजी “जानता हूँ, जानता हूँ,” करते रहे और चोर माल असबाब उठा ले गये।

इसी प्रकार देश सेवक आपको चेतावनी दे रहे हैं कि जागो, सँभलो, देखो धन चला जा रहा है। अभी कुछ विशेष नहीं बिगड़ा है। अभी थोड़े ही पराक्रम का काम है, और वह भी सिर्फ इतना ही की महारंभ को त्याग दीजिए। विदेशी खान-पान और वृथा व्यय से मुँह मोड़ लीजिए। उन्नति के कार्यों में जुट जाइए। आप विवाह आदि अवसरों पर जो वृथा व्यय करते हैं, वही अगर देश और जाति के उत्कर्ष में करें तो क्या आपको बदला नहीं मिलेगा? आप समझते हैं, विवाह में अधिक खर्च करने से समाज में सम्मान मिलता है, मगर क्या आप यह भी जानते हैं कि इससे कौन सम्मान देता है?

‘मूर्ख लोग!’

तो इन मूर्खों द्वारा प्राप्त होने वाले सम्मान को तो आप मानते हैं, लेकिन देश सेवकों द्वारा मिलने वाले सम्मान को क्या आप सम्मान नहीं समझते? आप जो फिजूल खर्च करते हैं सो आप अपनी समझ में अपना खर्च करते हैं; लेकिन देश-सेवकों का कहना है कि आप भारतवर्ष के धन से होली खेल रहे हैं। आप पेसा करके भारत का गला दबोच रहे हैं। कदाचित् आप देश और समाज की उन्नति में खर्च न करें, सिर्फ विवाह-शादियों और विदेशी वस्तुओं में खर्च करना बंद कर दें, तो भी वह धन बचा तो रह सकेगा! अगर सेठ की तरह ‘जानूँ हूँ, जानूँ हूँ’ करते रहे और जानकर भी आलस्य में पड़े रह तो पूर्वोक्त सेठ की भांति लुट जाओगे और सेठानी के अधिकार के पात्र बनोगे।

धन कभी, किसी के यहाँ स्थायी नहीं रहा। आज है, कल चला जायगा। इस लिये उससे सुकृत कर लो। आप जैन हैं, जैनधर्म का प्रभाव अपने उच्च चरित्र द्वारा बढ़ाइये। जैनधर्म को कलंकित करने वाला कोई काम न कीजिये।

अब मूल विषय पर आइए। यह कहा जा चुका है कि आरम्भ का सरल अर्थ है जीव को कष्ट पहुँचाना। लेकिन इस अर्थ में यह शंका हो सकती है कि जीव सदा-सर्वदा तो दूसरे को कष्ट पहुँचाता नहीं है। सब समय आरम्भ नहीं करता है। अतएव जीवों को कभी आरम्भ करने वाले और कभी आरम्भ न करने वाले कहना चाहिए। यह शंका उत्पन्न न हो, इस लिए आरम्भ का समुच्चय में अर्थ किया गया है—आस्रव-द्वार में प्रवृत्ति करना।

अब प्रश्न यह है कि छठे गुणस्थान वाले प्रमत्तसंयत आरम्भी हैं, और सातवें गुणस्थान वाले आरम्भी नहीं हैं, तथा आस्रव की प्रवृत्ति तेरहवें गुणस्थान तक है। फिर यह अर्थ कैसे संगत होगा कि आस्रव-द्वार में प्रवृत्ति करना आरम्भ है, क्योंकि सातवें गुणस्थान से आगे आरम्भिया क्रिया नहीं है।

इसी सूत्र में आगे गौतम स्वामी ने प्रश्न किया है कि—भगवान्! जीव जब तक चलता-फिरता है, तब तक उसे मोक्ष प्राप्त होता है? इस प्रश्न का उत्तर भगवान् ने निषेध में दिया है। क्योंकि जब तक जीव चलता-फिरता है, तब तक उस के शरीर से प्राणियों को दुःख पहुँचता ही है। तात्पर्य यह है कि चौदहवें गुणस्थान से पूर्व जीव के शरीर से दूसरे प्राणियों को कष्ट पहुँचता ही है।

आत्मा का आरम्भ करे वह अथवा अपने आत्मा की प्रेरणा से जो आरम्भ करे वह आत्मारम्भी है। मतलब यह है कि स्वेच्छा से जो आरम्भ करता है वह आत्मारम्भी कहलाता है।

इसी प्रकार परारम्भी के भी दो अर्थ हैं। प्रथम दूसरे के आत्मा को कष्ट पहुँचावे वह अथवा दूसरे की प्रेरणा से आरंभ करे वह परारम्भी है।

अपने आत्मा का भी आरंभ करे और दूसरे के आत्मा का भी आरंभ करे, इसी प्रकार दूसरे की प्रेरणा तथा अपनी इच्छा से जो आरंभ करे वह उभयारम्भी कहलाता है।

आत्मा कई बार काम, क्रोध आदि आन्तरिक विकारों के वश होकर कार्य करता है, कई बार दूसरे के दबाव से काम करता है और कभी-कभी दोनों कारणों से कार्य करता है। इसी कारण आरंभी के तीन भेद किये गये हैं।

गौतम स्वामी के इसी प्रश्न का एक भाग यह है कि, क्या ऐसे जीव भी हैं, जो न आत्मारम्भी हैं, न परारम्भी हैं, न उभयारम्भी हैं? क्या कोई निरारम्भी भी हैं?

यह प्रश्न इसलिये किया गया है कि ठाणांग सूत्र में आत्मा को एक * कहा है। अतएव या तो सभी आरंभी हों या सभी निरारंभी हों। इसके अतिरिक्त मूल रूप में आत्मा अरूपी है। तो क्या आत्मा आरंभ करता है या सांख्य के कथनानुसार प्रकृति आरंभ करती है और आत्मा भोगता है? इत्यादि बातों को लक्ष्य में रखकर ही यह प्रश्न किया गया है।

* एगे आया—ठाणांग सूत्र, प्रथम ठाणा प्रथम सूत्र।

इस प्रश्न का उत्तर भगवान् ने यह दिया है कि-गौतम ! कई जीव आत्मारंभी हैं, कई परारंभी हैं, कई उभयारंभी हैं, पर निरारंभी नहीं कई जीव ऐसे भी हैं जो न आत्मारंभी हैं, न परारंभी हैं, न उभयारंभी हैं, किन्तु निरारंभी हैं ।

ठाण्णंगसूत्र में, आत्मा को एक कहा गया है, वह शुद्ध संग्रहणय की अपेक्षा से ही । व्यवहारणय से जीव दो प्रकार के हैं—संसारि और सिद्ध ।

संसरणं संसारः । अर्थात् एक गति से दूसरी गति में जाना संसार है । आत्मा की चंचल दशा ही संसार है । जो आत्मा चंचल दशा में है; वह संसारि है और जो चंचल दशा में नहीं है वह असंसारि या मुक्त है । इन्हीं को सिद्ध कहते हैं ।

अष्टकर्म रूपी काष्ठ को या जीव के आत्त्व आदि के हेतुओं को शुक्लध्यान की अग्नि से जलाकर, आवागमन-रहित होने वाले को सिद्ध कहते हैं । गीता में कहा है—

‘यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम’

अर्थात्—जिस स्थिति में पहुँच जाने पर फिर लौट कर नहीं आना पड़ता, उस स्थिति को सिद्ध गति कहते हैं । जो यह स्थिति प्राप्त करते हैं, वह सिद्ध कहलाते हैं ।

सिद्ध भगवान् न आत्मारंभी हैं, न परारंभी हैं और न उभयारंभी हैं । वे सर्वथा निरारंभी हैं ।

कुछ लोगों का कथन है कि जो शक्ति, ईश्वर मानी गई है, वही जगत् का कर्त्ता है । अगर यह कथन मान लिया तो ईश्वर को भी आरंभी मानना पड़ेगा । इस हालत में

संसारी जीवों से उसमें कोई विशेषता न रह जायगी । अतः जैन-धर्म ऐसा नहीं मानता । जैन-धर्म के अनुसार सिद्ध कृतकृत्य होते हैं, उन्हें कोई भी काम करना शेष नहीं रहा है । बिना इच्छा के जगत्-निर्माण होना संभव नहीं है और ईश्वर में इच्छा शेष नहीं रहती ।

जो लोग ईश्वर को कर्त्ता मानते हैं, उनसे यह पूछना चाहिए कि आप ईश्वर को पूर्णतया कर्त्ता मानते हैं या अंश-तया ? अगर ईश्वर पूर्णतया कर्त्ता है, तो हम लोग कुछ भी करने-घरने वाले नहीं रहे । जो कुछ किया, ईश्वर ने ही किया । खिलाना, पिलाना, चलाना आदि हमारी समस्त क्रियाओं का कर्त्ता भी ईश्वर ही ठहरता है । सभी भले-बुरे काम उसके ही कर्त्तव्य हैं । अगर यह सत्य है तो जीवों को भिन्न भिन्न फल क्यों भोगने पड़ते हैं ? मान लीजिए, एक बादशाह की प्रेरणा से पांच आदमियों ने पांच काम किये । जब पांचों बादशाह के बताये हुए काम करके लौटे, तो बादशाह ने उनमें से एक को वजीर बनाया, एक को दूसरा कोई ओहदा दिया, एक को पुरस्कार दिया, एक की सम्पत्ति छीन ली और एक को जेल में डाल दिया । सभी ने बादशाह की इच्छा से, प्रेरणा से, उसके बताये काम किये, फिर किसी को पुरस्कार और किसी को दंड क्यों ? ऐसा करने वाला बादशाह क्या न्यायी कहला सकता है ? नहीं ।

इसी प्रकार आत्मा यदि ईश्वर की प्रेरणा से कार्य करता है, स्वयं नहीं करता, तो फिर ईश्वर भिन्न-भिन्न फल क्यों देता है ? एक को सुखी और दूसरे को दुखी क्यों बनाता है ? किसी को स्वर्ग में और किसी को नरक में क्यों भेजता है ?

अगर यह कहा जाय कि जीव जैसा कर्म करता है वैसा फल भोगता है, तो फिर कर्म का कर्त्ता कौन ठहरा ? आत्मा ही कर्म का कर्त्ता सिद्ध हुआ । आत्मा अगर कर्म का कर्त्ता है तो ईश्वर पूर्णतया कर्त्ता नहीं रहा ।

अब आप कह सकते हैं कि कर्म का कर्त्ता आत्मा ही है, लेकिन फल देने वाला कोई और है । जैसे चोर स्वेच्छा से जेल नहीं जाता, उसी प्रकार आत्मा अपने कर्म का फल नहीं भोगना चाहता है । ऐसी हालत में फल देने वाला कोई और ही होना चाहिए ।

इसका समाधान यह है कि जो जेल में भेजता है, वह जेल जाने योग्य कामों को करने से रोकता भी है । अगर परमात्मा कर्म-फल देता है, वह क्षात्री भी है-सभी कुछ जानता है और सर्वशक्तिमान भी है, तो वह बुरे काम करने वाले को रोक क्यों नहीं देता ? अगर वह उसी समय रोक दे तो कर्म-फल देने की आवश्यकता ही न रहे । आखिर आप उस पिता को क्या कहेंगे, जो अपने पुत्र को, अपनी आँखों के सामने, जान-बूझकर कुएँ में गिरने देता है, रोकने का सामर्थ्य होने पर भी नहीं रोकता; और फिर अन्त में कुएँ में गिरने के लिए दंड देने पर उतारू हो जाता है ! क्या वह पिता शक्तिमान्, न्यायी और दयालु कहला सकता है ?

तब प्रश्न होता है, आखिर जीव किसकी प्रेरणा से कर्म का फल भोगता है ? इसका सरल समाधान यह है कि अगर कोई अपने मुँह में मिथ्री डालेगा तो उसे मिठास आप ही आएगी । यह मिठास ईश्वर ने दी या मिथ्री में ही मिठास का गुण है ? मिर्च खाने वाले का मुँह जलेगा । सो ईश्वर

उसका मुँह जलाने आयेगा या मिर्च में ही मुँह जलाने का गुण है। मिश्री अगर मिठास नहीं देती और मिर्च मुँह नहीं जलाती, तो वह मिश्री या मिर्च ही नहीं है। इसी प्रकार कर्म में अगर शुभाशुभ फल देने की शक्ति न हो तो वह कर्म ही नहीं है। जिस प्रकार मुँह को मीठा करने और जलाने का गुण मिश्री और मिर्च में है, उसी प्रकार शुभ और अशुभ फल देने की शक्ति कर्म में है।

तब प्रश्न होता है कि क्या ईश्वर को कर्त्ता न माना जाय?

हम प्रार्थना में ईश्वर को कर्त्ता मानते हैं, लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं है कि ईश्वर के सिर पर संसार रचने का भार लादते हैं और उसे संसार-कार्य में प्रवृत्त करते हैं। भगवान् ने अपने ज्ञान में सब जीवों को देखा है। जीव स्वयम् तो अपने कार्यों को नहीं जानते, परन्तु ईश्वर को अपने विशिष्ट ज्ञान द्वारा सब के कार्यों का पता है। इसी लिए उन्होंने गौतम स्वामी को अपना बजीर बना कर सब हाल बतला दिया कि जीव इस प्रकार आत्मारंभी, इस प्रकार परारंभी और इस प्रकार उभयारंभी या निरारंभी होते हैं। ऐसा प्रकट करके भगवान् ने जगत् को सन्मार्ग दिखलाया है। सन्मार्ग प्रदर्शक होने से भगवान् कर्त्ता है। हम परमात्मा से प्रार्थना करते हैं-

आरुण्यबोहिलाभं, समाहिवरमुत्तमं दिन्तु।

अर्थात्-रोग रहित बौधि और श्रेष्ठतम समाधि दीजिए।

अगर परमात्मा कुछ न देता होता तो उससे यह याचना क्यों की जाती? इससे प्रकट है कि परमात्मा निमित्त रूप से कर्त्ता है। वह समस्त आत्मगुणों को प्रकट करने

वाला है। यद्यपि हाथ से लिखा जाता है, तथापि प्रकाश के अभाव में लिखना शक्य नहीं है। लेखन-क्रिया में हाथ कर्त्ता है, लेकिन प्रकाश भी निमित्त कर्त्ता है। जैसे सूर्य आँख को प्रकाश देता है, उसी प्रकार ईश्वर हृदय को प्रकाश देता है। अतः ईश्वर को निमित्त-कर्त्ता मानने में कोई हानि नहीं है। स्तुति में भी कहा है—

कारण पद कर्त्तापणे रे, करि आरोप अभेद ।

निज-पद अर्थी प्रभु थकीरे, करे अनेक उभेद ।

अजित जिन! तारजोरे ॥

जिसे कारण कहते हैं, उसे कर्त्ता मान कर, अभेद रूप से उसकी स्तुति करते हैं। अपने आत्मा की स्वतंत्रता चाहने वाला प्राणी, उस परमात्मा से अनेक उन्मीदें करता है और कहता है—प्रभो! मुझे तारो।

सिद्ध निरारंभी हैं, इसी कारण हमें तार सकते हैं अगर वह निरारंभी न होते तो हमें तार भी न सकते।

सिद्ध पद ध्येय है। इसी की प्राप्ति के लिए सब कुछ किया जाता है। मगर देखना चाहिए कि उस पद की प्राप्ति कैसे हो सकती है?

सर्व प्रथम आप लोगों को यह ज्ञान प्राप्त करना चाहिए कि आप यहाँ क्यों आये हैं? हमारा और आपका ध्येय एक ही है। आप हमारे ध्येय को अपना ध्येय बनाकर यहाँ उपस्थित हुए हैं, इसलिये हमारा आत्मा, परमात्मा को जिस रूप में स्वीकार करता है, परमात्म-पद प्राप्त करने के जो उपाय

देखता है, वही सब हम आपको सुनाते हैं। जो भव्य पुरुष इन उपायों का सदा ध्यान रखते हैं और परमात्मा की स्तुति में मन लगाते हैं, वे संसारी से असंसारी बन जाते हैं, आरंभी से निरारंभी बन जाते हैं।

भगवान् कहते हैं—गौतम ! संसारी जीव भी दो तरह के हैं—संयत और असंयत। जो मनुष्य सब प्रकार की बाह्याभ्यन्तर ग्रंथि से और विषय-कषाय से निवृत्त हो गये हैं, वह संयत कहलाते हैं। जो विषय-कषाय से निवृत्त नहीं हुए हैं और आरंभ में प्रवृत्त हैं, वह असंयत कहलाते हैं।

संयत भी दो प्रकार के हैं—प्रमादी और अप्रमादी। अप्रमादी संयत न आत्मारंभी हैं, न परारंभी हैं, न उभयारंभी हैं, किन्तु निरारंभी हैं। प्रमादी संयत के दो भेद हैं—शुभ योग वाले और अशुभ योग वाले। शुभ योग वाले प्रमादी संयत न आत्मारंभी हैं, न परारंभी हैं, न उभयारंभी हैं, किन्तु निरारंभी हैं। अशुभ योग वाले प्रमादी संयत निरारंभी नहीं हैं, किन्तु आत्मारंभी हैं, परारंभी हैं और उभयारंभी हैं।

पूरी तरह विचार न करने वाला इन्हीं वचनों से भगड़े में पड़ जाता है। तेरहपंथी भाइयों का कथन है कि यहां शुभ योग वाला निरारंभी है, ऐसा कहा है। वे मन, वचन और काय के योग को ही योग समझते हैं और ऐसे शुभ योग वाले को ही निरारंभी समझते हैं। इसी आधार पर वे मिथ्यात्वी की क्रिया को भी भगवान् की आज्ञा में बतलाते हैं। लेकिन ऐसा शुभ योग तो सभी गुणस्थानों में है—मिथ्या दृष्टि में भी ऐसा शुभ योग मिल सकता है। अगर इस शुभ योग के होने से ही कोई निरारंभी हो जाता है तो फिर प्रथम

यद्यपि प्रतिलेखन करते समय छुहों कार्यों के जीव बड़ा नहीं आते, लेकिन जहाँ उपयोग है वहीं दया है। उपयोग न रखना ही हिंसा है।

ऊपर जो गाथा प्रमाण रूप में उद्धृत की गई है, उस का व्यतिरेक रूप से अर्थ किया जाय तो यह स्पष्ट है कि उपयोग शुद्ध हो और प्रतिलेखन करे तो छुहों कार्यों की दया करता है। अतएव यहाँ योग का अर्थ सामान्य योग नहीं लिया गया है, किन्तु उपयोग के अर्थ में योग शब्द का व्यवहार किया गया है। मन, वचन, कर्म की प्रवृत्ति रूप धर्म यहाँ लिया जाय तो बड़ी गड़बड़ी होगी।

सातवें से दसवें गुणस्थान में योग के नौ भेद माने जाते हैं। मगर तेरहपंथियों ने नौ भेद मिटा कर उनके स्थान पर पांच ही भेद रख दिये हैं। शुभ योग मिथ्यात्वी और अमव्य जीव के भी होता है, मगर उनके उपयोग-यतना-नहीं होने के कारण उन्हें अनारम्भी नहीं कहा जा सकता।

सार यह है कि प्रमादी साधु छठे गुणस्थान में हैं। शब्द नय के अनुसार जिसमें उपयोग है, वह साधु है और जिसमें उपयोग नहीं है, वह साधु नहीं है। अनारम्भी होने का कारण उपयोग है।

शरीर के योग से तेरहवें गुणस्थान तक हिंसा होती है। लेकिन उपयोग होने से वह हिंसा, हिंसा नहीं मानी जाती। प्रतिलेखन करते समय भी हलन-चलन होता है और उससे जीवघात भी होता है, लेकिन वहाँ उपयोग युक्त शुभ योग है, इस लिए हिंसा नहीं है। ऐसा साधु शुभयोगी

होने के कारण अनारम्भी है । इसके विपरीत हलने-चलन करने वाले का योग भी अंगर अशुभ है तो वह आरम्भी ही माना जायगा ।

जैनधर्म में हिंसा और अहिंसा क्या है, यह देखने योग्य है । कई लोग यह तर्क किया करते हैं कि-जैनशास्त्रों में एकेन्द्रिय जीव के घात को भी हिंसा कहा गया है । उधर साधुको पूर्ण अहिंसक भी माना है । यह कैसे संभव हो सकता है ? मुनि से शयुकाय के जीवों की हिंसा होती है, चलने-फिरने में हिंसा होती है, बिना हिंसा किए कोई जीव जीवित नहीं रह सकता, ऐसी स्थिति में साधु भी पूर्ण अहिंसक कैसे हो सकते हैं ? कदाचित् और क्रियाएँ बंद हो जायँ तो भी जीवन के लिए श्वासोच्छ्वास अनिवार्य है । थोड़ा बहुत हलन-चलन भी अनिवार्य है । इसमें जीवघात होता है । फिर पूर्ण अहिंसा की साधना कैसे संभव हो सकती है ? अतएव या तो इतनी सूक्ष्म हिंसा को हिंसा ही न समझा जाय या अहिंसा को अव्यवहार्य माना जाय ।

जैनशास्त्रों में हिंसा का जो स्वरूप बतलाया गया है, इस पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने से इस प्रश्न का समाधान सहज ही हो जाता है । हिंसा का लक्षण इस प्रकार है-

प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा ।

—तत्त्वार्थसूत्र ।

प्रमाद के योग से अर्थात् उपयोग से भ्रष्ट हो कर जीव के प्राणों का घात करना हिंसा है । मुनि जब चोलते हैं तो

भाषासमिति से बोलते हैं और जब चलते हैं तो यतना के साथ चलते हैं। अतएव मुनि सर्वथा अहिंसक हैं।

अब प्रश्न होता है कि जिनकल्पी मुनि ब्रह्म नहीं रखते हैं, फिर वे यतना कैसे करते हैं? इसका उत्तर यह है कि मुनि चाहे जिनकल्पी हो या स्थविस्कल्पी, उसमें लिंग का होना आवश्यक है। और लिंग में रजोहरण तथा सुखवल्लिका का होना आवश्यक है। तात्पर्य यह है कि जहाँ प्रमाद का योग है—अयतना है—असावधानी है—वहीं हिंसा होती है। मुनि प्रत्येक क्रिया यतनापूर्वक ही करते हैं, अतएव वे पूर्णरूप से अहिंसक हैं।

संसार-समापन्न जीवों के दो भेद कहे गये हैं—संयत और असंयत। मुनि-महात्मा संयत कहलाते हैं। जिन्होंने कृपण्य पर विजय प्राप्त कर ली है और जो आत्मा के असली आनन्द का उपभोग करते हैं, वे संयत हैं, और जो ऐसा नहीं कर पाये हैं, वे असंयत हैं,। संयत-मुनियों में भी दो भेद हैं—अप्रमादी और प्रमादी। अप्रमादी संयत न आत्मारंभी हैं, न परारंभी हैं, न उभयारंभी हैं, किन्तु निरारंभी हैं। सातवें गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान तक के साधु अप्रमादी कोटि में अन्तर्गत है। प्रमादी संयत भी दो प्रकार के हैं—एक शुभयोगी, दूसरे अशुभयोगी। शुभयोगी के दिष्य में पहले ही कड़ा जा चुका है। विस्तार के भय से उस पर और अधिक विचार नहीं किया जा सकता। जो शुभ योगी नहीं हैं, अर्थात् जो साधु हो गये हैं मगर यतना को भूले हुए हैं, जिन्होंने आरम्भ का त्याग तो कर दिया है मगर सावधान-जागरूक नहीं हैं, वे शब्दनय से आत्मारंभी हैं, परारंभी हैं, उभयारंभी हैं, किन्तु निरारंभी नहीं हैं।

साधुओं। इस प्रश्नोत्तर से आपके लिए एक बात स्पष्ट हो जाती है। आप यह न समझें कि आपने तीन करण, तीन रोग से पाप का त्याग कर दिया सो आप एकदम निष्पाप अवस्था में पहुँच गये हैं। अब कोई भी पाप आपको स्पर्श नहीं कर सकता। त्याग की प्रतिज्ञा का शाब्दिक उच्चारण करने से ही त्याग नहीं हो जाता। वास्तविक त्यागी और निरारंभी बनने के लिए सावधानी रखने की आवश्यकता है। जिस श्रद्धा के साथ संसार का परित्याग किया है, वही श्रद्धा आजीवन स्थिर रहे, बल्कि बढ़ती जाय, ऐसा प्रयत्न सदैव करना चाहिए। इसी प्रयोजन से भगवान् ने गौतम को क्षण भर भी प्रमाद न करने के लिए कहा है। प्रमाद ही आरंभ है। अतएव आरंभ का त्याग कर देने पर भी संयम में सावधानी न रखने से आरंभ होता है।

प्रश्न हो सकता है कि जो निरारंभी नहीं हैं, उन्हें साधु कैसे कहा जा सकता है? इसका समाधान यह है कि उनमें गफलत आ गई है, पर उस गफलत को मिटाने की इच्छा उनमें है और उनकी लेश्या शुद्ध है। अन्तःकरण में लेश्या की अशुद्धि नहीं है, इसलिए वे साधु-पद में ही गिने जाते हैं। ऐसा व्यक्ति शीघ्र ही शुद्ध हो सकता है। जिसकी लेश्या विगड़ जायगी, वह लिंग-धारी होने पर भी साधु नहीं है। भेष होने पर भी मिथ्यात्व होता है।

तात्पर्य यह है कि प्रमादी संयमी अशुभ योग की अपेक्षा तो आत्मारंभी हैं, परारंभी हैं, उभयारंभी हैं-अनारंभी नहीं हैं, और शुभ योग की अपेक्षा न आत्मारंभी, न परारंभी, न उभयारंभी हैं, वरन् अनारंभी हैं।

यह हुई संयत की बात । असंयत के विषय में भगवान् कहते हैं—असंयतों में जो अविरति हैं, वे आत्मारंभी भी हैं, परारंभी भी हैं और उभयारंभी भी हैं । वे अनारंभी नहीं हैं । असंयत में भले ही शुभ योग की प्रवृत्ति हो जाय, तब भी त्याग-दशा में होने वाली सावधानी उसमें नहीं है, अतएव वह अनारंभी नहीं है ।

गौतम स्वामी, भगवान् से कहते हैं कि हे देवाधिदेव ! आपकी अमृतवाणी सुनने से मुझे तृप्ति नहीं होती; इसलिए मैं फिर प्रश्न करता हूँ । भगवान् ने भी गौतम स्वामी को लक्ष्य करके बाल जीवों के कल्याण के लिए सब बातें कही हैं । बड़े आदमी को अमृत मिलता है तो वह सब को बांट देता है । इस नियम के अनुसार गौतम स्वामी ने जो प्रश्न किये हैं, वे सारे संसार के लिए हैं ।



नारकी आदि चौकीस दंडक के जीव
आरम्भी हैं ?

—...*...—

मूलपाठ—

प्रश्न-नेरइया एं भंते ! किं आयारंभा,
परारंभा, तदुभयारंभा, अणारंभा ?

उत्तर-गोयमा ! नेरइया आयारंभा वि,
जाव एो अणारंभा ।

प्रश्न-से केणट्ठेणं ?

उत्तर-गोयमा ! अविरतिं पडुच्च, ते
तेणट्ठेणं, जाव ' नो अणारंभा ' एवं जाव
असुरकुमारा वि । पंचिदियतिरिक्खजोणियावि ।

मणुस्सा जहा जीवा, एवरं सिद्धविरहिया
भाणियन्वा ।

वाणमंतरा जाव—वेमाणिया, जहा
नेरइया ।

सलेस्सा जहा ओहिया । कण्हलेसस्स,
नीलेसस्स, काउलेसस्स जहा ओहिया जीवा,
नवरं-पमत्त अप्पमत्ता न भाणियन्वा । तेउलेसस्स,
पह्लेसस्स, सुकलेसस्स जहा ओहिया जीवा,
नवरं सिद्धा न भाणियन्वा ।

संस्कृत-छाया—प्रश्न-नैरयिकाः भगवन् ! किमात्मारम्भाः,
परारम्भाः, तदुभयारम्भाः, अनारम्भाः ?

उत्तर-गौतम ! नैरयिका आत्मारम्भा अपि, यावत् नो
अनारम्भाः ।

प्रश्न-तत्केनार्थेन ?

उत्तर-गौतम ! अविरतिं प्रतीत्य, तत् तेनार्थेन, यावद् ' नो
अनारम्भाः ' एवं यावद् असुरकुमारा अपि । पञ्चोद्भियातिर्षग्योनिकाः,

मनुष्या यथा जीवाः , नवरं सिद्धविरहिता भणितव्याः ।

वानव्यन्तरा यावद् वैमानिकाः , यथा नैरयिकाः ।

सलेक्ष्या यथा औघिकाः । कृष्णलेक्ष्यस्य, नीललेक्ष्यस्य, कापोत-
लेक्ष्यस्य यथा औघिका जीवाः, नवरं प्रमत्ताऽप्रमत्ता न भणितव्याः ।
तेजोलेक्ष्यस्य, पद्मलेक्ष्यस्य, शुक्ललेक्ष्यस्य, यथा औघिका जीवा,
नवरं सिद्धा न भणितव्याः ।

सूत्रार्थ—प्रश्न-भगवन् ! नारकी जीव क्या आत्मा-
रंभी है, परारंभी है, तदुभयारंभी है, या अनारंभी है ?

उत्तर-गौतम ! नारकी आत्मारंभी भी है; यावत्
अनारंभी नहीं है ।

प्रश्न-भगवन् ! किस कारण से ?

उत्तर-गौतम ! अविरति की अपेक्षा से—इस लिए
अविरति रूप हेतु से नारकी यावत् अनारंभी नहीं है । इसी
प्रकार यावत् असुरकुमार भी । पूर्वोक्त सामान्य जीवों की
भांति पंचेन्द्रिय तिर्यच योनि वाले तक जानना चाहिए ।
मनुष्यों में ज्यों समुच्चय जीव का कहा वैसे कहना ।
विशेषता यह है कि सामान्य जीवों में सिद्ध कहे हैं सो यहाँ
नहीं कहना चाहिए ।

नैरयिकों की तरह वान-व्यन्तर यावत् वैमानिक समझना ।

लेश्या वाले जीवों के विषय में सामान्य जीवों के समान समझना चाहिए । कृष्णलेश्या वाले नीललेश्या और कापतलेश्या वाले जीव भी, सामान्य जीव की भांति हैं । विशेषता यह है कि सामान्य जीवों में कहे हुए प्रमत्त और अप्रमत्त यहां नहीं कहना चाहिए । तथा तेजो-लेश्या वाले, पद्मलेश्या वाले और शुक्ललेश्या वाले जीव सामान्य जीवों के समान समझना । विशेषता यह कि सामान्य जीवों में से सिद्धों का कथन यहां नहीं करना चाहिए ।

व्याख्यान-गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन् ! नारकी जीव घोर दुःख भोग रहे हैं, उन्हें एक श्वास की भी साता नहीं है, और अशक्त-पेसे हैं कि कुछ कर नहीं सकते । इस लिए वे निरारंभी हैं ?

इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् फरमाते हैं—हे गौतम ! नारकी जीव आत्मारंभी हैं, परारंभी हैं, परन्तु निरारंभी नहीं हैं । मेरी आरंभी और अनारंभी की व्याख्या शक्ति-अशक्ति या दुःख-सुख पर अवलंबित नहीं है, किन्तु व्रत और अव्रत की अपेक्षा से है । नरक के जीवों के न व्रत हैं, न मर्यादा है और न उन जीवों के व्रत-मर्यादा हो ही सकती है ।

धर्म का पालन न घोर दुःख में होता है, न घोर सुख में । मध्यम श्रेणी के जीव ही व्रतों का पालन कर सकते हैं । नरक के जीव बहुत दुखी हैं और स्वर्ग के जीव बहुत सुखी हैं; इसलिए इन दोनों के ही व्रत नहीं होते । सुख दुःख के संग्राम में उतर कर आत्मा को वहाँ उत्तम बनाये रखने वाला ही व्रत में उतर सकता है ।

भगवान् कहते हैं—गौतम ! नारकी अवती हैं, इस कारण वे अनारंभी नहीं हैं । इसी प्रकार असुरकुमार से वैमानिक देव तक सभी देवगति वाले निरारंभी नहीं हैं, क्योंकि वे सभी अवती हैं ।

यह कथन करके भगवान् ने सावधान किया है कि—हे साधुओ ! ऐ मनुष्यो ! जो योग देवों को भी प्राप्त नहीं हो सकता, वह योग तुम्हें प्राप्त है । इस दुर्लभ योग को प्रमादी होकर वृथा न खोओ । देवता भी निरारंभी नहीं हो सकते । तुम निरारंभी हो सकते हो । इसलिए व्रतों का पालन करने में असावधान मत रहना ।

पृथ्वीकाय के जीव एकेन्द्रिय हैं । हिलते-डूलते नहीं हैं, न कुछ किया ही करते हैं । वे इतने स्थिर हैं कि साधु भी उतना स्थिर नहीं दिखाई देता । साधुओं को पृथ्वी के समान बनने के लिए कहा जाता है । फिर भी वह वैसے नहीं हो पाते । पृथ्वी अच्छे-बुरे सभी व्यवहारों को समानभाव से सहन करती है । तो क्या पृथ्वी के जीव निरारंभी हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में भी भगवान् ने यही कहा है कि वे भी निरारंभी नहीं हैं । क्योंकि आत्मा की शुद्ध दशा की धारणा और आत्मा की

अगर मैं संयम के साथ इन दुःखों को सहन करूँगा तो सर्वार्थसिद्ध के देवता भी मेरी समानता नहीं कर सकेंगे। मैंने संसार में रहकर घोर दुःख पाया, फिरभी कोई फल नहीं निकेला। लेकिन संयम का पालन करते हुए यह जो दुःख आया है, इसे अगर प्रसन्नता पूर्वक, संयम में स्थिर रहते हुए सहन कर लिया तो मेरा संयम रूपी हीरा सुरक्षित रह जायगा और उसके प्रभाव से अनन्त और अक्षय सुख की प्राप्ति होगी। यह दुःख, दुःख नहीं है, मेरा आन्तरिक विकार ही है, जो दुःख के रूप में बाहर फूट रहा है। इसका बाहर निकल जाना ही श्रेयस्कर है।

जुलाव लेने पर भी दस्त लगते हैं और संग्रहणी की बीमारी में भी दस्त लगते हैं। इन दोनों प्रकार के दस्तों में क्या विशेषता है? एक दस्त रोग से भरा हुआ है और दूसरा रोग को बाहर निकालता है। वही बात दुःख के सम्वन्ध में है। कोई कोई दुःख, दुःख को बढ़ाने वाला होता है, कोई दुःख आत्मा को चिर सुखी बनाता है।

गौतम स्वामी, भगवान् से पूछते हैं—भगवान् ! लेश्या-लेश्या वाले-जीव आत्मारंभी हैं, परारंभी हैं, उभयारंभी हैं, या अनारंभी हैं ?

इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् फरमाते हैं—लेश्यावाले जीव के विषय में वही उत्तर समझ लो, जो जीव के विषय में दिया गया है। कृष्ण, नील और कापोत लेश्या वाले जीवों को अधिक समझो। इतनी विशेषता अवश्य है कि इनमें प्रमादी, अप्रमादी तथा संयत, असंयत का भेद नहीं है; क्योंकि जिनमें यह तीन लेश्याएँ होती हैं, वे संयत (साधु)

नहीं होते। शेष आगे की तीन लेश्या वालों में यह भेद होते हैं। जहाँ लेश्या पद आवे वहाँ सिद्धों को छोड़ देना चाहिए, क्योंकि सिद्धों में लेश्या नहीं होती।

कृष्ण आदि द्रव्यों के निमित्त से जीव के जो परिणाम होते हैं, उन्हें लेश्या कहते हैं। कहा भी है:—

कृष्णादिद्रव्य साचिव्यात्, परिणामो य आत्मनः ।

स्फटिकस्येव तत्राऽयं, लेश्याशब्दः प्रयुज्यते ॥

आचार्य-रचित इस श्लोक का अर्थ यह है कि-कृष्ण आदि द्रव्यों की सन्निकटता से आत्मा में जो परिणाम उद्भूत होते हैं, उसे लेश्या कहते हैं। जैसे स्फटिक के नीचे काले रंग की वस्तु रखने से स्फटिक काला दिखाई देता है, वैसे ही लेश्या से आत्मा हो जाता है।

लेश्यावाले जीवों का जहाँ निरूपण करना हो वहाँ 'संसारसमापन्नक और असंसारसमापन्नक भेद नहीं करना चाहिए; क्योंकि लेश्या वाले संसारसमापन्नक ही होते हैं, असंसारसमापन्नक नहीं होते।

‘हे भगवन् ! क्या लेश्या वाले जीव आत्मारम्भी है?’ यह लेश्या का प्रश्न-क्रम है। इसी तरह के कुछ प्रश्न, कुछ लेश्याओं के संबंध में और समझ लेने चाहिए। अतः लेश्या संबंधी सात प्रश्न होते हैं। इनके उत्तर में कृष्ण, नील और कापोत लेश्या में जीव-सामान्य के समान समझना चाहिए, सिर्फ प्रमादी और अप्रमादी के भेद छोड़ देने चाहिए। संयत,

असंयत का भी भेद नहीं करना चाहिए; क्योंकि इन लेश्याओं में संयम नहीं हो सकता ।

शंका—भगवती सूत्र के २५ वें शतक में कषाय कुशील संयमी को छहों लेश्याएँ कही हैं, फिर यहां आप तीन अप्रशस्त लेश्याओं में संयम का निषेध कैसे करते हैं ? सामायिक चारित्र और छेदोपस्थापना चारित्र तथा मनःपर्यय ज्ञान में छहों लेश्याएँ बताई गई हैं, फिर यहां सिर्फ तीन लेश्या वालों में ही साधुपन होता है, ऐसा क्यों कहते हैं ? अतएव यहां प्रमादी, अप्रमादी के भेद का जो निषेध किया है सो उचित नहीं जान पड़ता । हां यह कहा जा सकता है कि कृष्ण आदि तीन लेश्या वाले प्रमादी ही हैं; अप्रमादी नहीं ।

समाधान—यदि प्रमादी होने के कारण ही अप्रशस्त लेश्याओं का होना कहते हो तो पुलाक-नियंठा (निर्ग्रन्थ-साधु) सूल गुण और उत्तर गुण के प्रतिसेवी हैं और लब्धि फोड़ने पर उनमें तीन शुद्ध लेश्याएँ ही कही हैं । अगर इनमें अप्रशस्त लेश्याएँ भी होती, तो फिर तीन प्रशस्त लेश्याएँ ही क्यों कही है ? इसी प्रकार ब्रकुश नियंठा में भी तीन ही लेश्याएँ कही हैं ।

कोई अपने में दोष लगाना नहीं चाहता, फिर भी दोष लग गया है । किन्तु दोष लगने मात्र से लेश्या बुरी नहीं हो सकती । एक आदमी संकट में पड़ कर, विवशता से बुरा काम करता है और दूसरा स्वेच्छा से—प्रसन्नता पूर्वक । इन दोनों में कुछ भेद है या नहीं ? अवश्य है । पहला मनुष्य बुरा काम करता हुआ भी विचार से शुद्ध है । दूसरा काम से और

विचार से भी अशुद्ध है। अगर दोनों की लेश्याएँ समान मानी जाएँ तो दोनों समानरूप से पापी समझे जाएँगे।

आचार्य कहते हैं कि कुशील में जो छह लेश्याएँ कही हैं, उनमें तीन द्रव्य लेश्याएँ और तीन भाव लेश्याएँ हैं। तात्पर्य यह है कि पहले अशुद्ध लेश्या थी। भावना पलटी और साधुपना आ गया। इस लिए भाव लेश्या तो शीघ्र पलट गई, मगर द्रव्य लेश्या के पलटने में देरी लगती है। ऐसी स्थिति में द्रव्य लेश्या तो तीन पहले वाली बनी रही, मगर भाव लेश्याएँ तीन प्रशस्त हो गईं। इन तीन अप्रशस्त लेश्याओं में प्रमादी, अप्रमादी का अभाव है। अतएव कुशील-नियंठा में जो छह लेश्याएँ कही हैं उनमें तीन द्रव्य लेश्याएँ समझनी चाहिए। इस विषय का विशेष विचार सद्धर्ममण्डन नामक ग्रंथ में किया गया है।

तेरहपंथी कहते हैं कि भगवान् में छह लेश्याएँ थीं और आठों कर्म मौजूद थे। अतएव गौशाला को मृत्यु से बचाने में अगर वह चूक गये तो आश्चर्य ही क्या है? जब उनसे कहा जाता है कि कपायकुशीलनियंठा में लेना क्यों कहा है? तब कहते हैं—कहा होगा किसी अपेक्षा से। जब उनसे पूछते हैं कि—पुलाक-नियंठा व कुशनियंठा तथा प्रतिसेवनानियंठा में तीन शुद्ध लेश्याएँ क्यों कहीं हैं? तो बस, चुप हो रहते हैं।

भगवान् में शुद्ध लेश्या कहीं नहीं है। मगर तेरहपंथी गौशाला को बचाने के कारण भगवान् को पाप लगना कहना चाहते थे, इसलिए उन्होंने भगवान् को लेश्याएँ भी छह कह दी हैं।

तात्पर्य यह है कि अशुद्ध लेश्याओं में साधुता नहीं रहती । वल्कि गोम्मटसार ग्रन्थ में तथा अन्य ग्रंथों में तो अशुद्ध लेश्या में श्रावकपन भी नहीं माना है । इस पर यह प्रश्न किया जा सकता है कि श्रावक संसार संबंधी कार्य करता है, फिर उसमें शुद्ध लेश्या कैसे रह सकती है ? इसका उत्तर यह है कि साधु लब्धि फोड़कर दूसरे को सजा देने पर भी जैसे विराधक नहीं है, उसी प्रकार श्रावक संसार संबंधी कार्य करता हुआ भी, भावना की अशुद्धता न होने के कारण अप्रशस्त लेश्या वाला नहीं है । व्रत का पालन, शुद्ध लेश्या के अन्तर्गत है । यह कहा जा सकता है कि श्रावक आरंभ करता है, मगर यह भी नहीं भूलना चाहिए कि जहां वह हल्का आरंभ करता है वहां व्रतों का पालन भी करता है । श्रावक के परिणाम सदा अच्छे रहते हैं, इसलिए उसकी लेश्या भी शुद्ध ही है ।

तात्पर्य यह है कि कृष्ण, नील और कापोत लेश्या का एक दंडक कर लीजिए । यह तीन औधिक हैं । इनमें प्रमादी, अप्रमादी का भेद नहीं है, क्योंकि कृष्ण, नील और कापोत लेश्या में साधुता नहीं है जहां साधु में छह लेश्याएँ कहीं गई हों वहां तीन द्रव्य लेश्याएँ समझनी चाहिए, भाव लेश्याएँ नहीं । यह बात टीकाओं और टिप्पणियों में स्पष्ट कर दी गई है । अतएव अशुद्ध लेश्याओं में प्रमादी और अप्रमादी का भेद नहीं रहता ।

प्रश्न-सूत्र का उच्चारण किस प्रकार करना चाहिए ? यह विधि बतलाते हैं । वह इस प्रकार है—भगवन् कृष्णलेश्या वाले जीव आत्मरंभी हैं, परारंभी हैं, उभयारंभी हैं, या अनारंभी हैं ? इसका उत्तर है—गौतम ! आत्मरंभी हैं, परारंभी हैं, उभयारंभी हैं, अनारंभी नहीं हैं ।

इससे यह सिद्ध हुआ कि कृष्णलेश्या वाला जीव जब अनारंभी होता ही नहीं है, तब उसमें प्रमादी और अप्रमादी का भेद कहाँ से आएगा ?

गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन् ! आपने जो निरूपण किया है सो किस हेतु से ? इसका उत्तर भगवान् देते हैं—अव्रत की अपेक्षा से कृष्णलेश्या वाले जीव आत्मारंभी होते हैं, परारंभी होते हैं, उभयारंभी होते हैं, किन्तु अनारंभी नहीं होते।

शास्त्रकारों ने विरताविरत (एकदेशविरत—आवक) में तीन अशुद्ध लेश्याएँ भी मानी हैं, लेकिन कई ग्रंथ इससे सहमत नहीं हैं। गोस्मटसार में, आवक में तीन शुद्ध लेश्याएँ ही बताई हैं। इसके अनुसार खोटी लेश्या वाला आवक भी नहीं हो सकता।

जैसा प्रश्न और उत्तर कृष्णलेश्या के विषय में ऊपर लिखा गया है, वैसा ही नील और कापोत लेश्या में भी समझना चाहिए।

तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या के प्रश्नोत्तर वैसे ही समझना चाहिए, जैसे समुच्चय जीव के विषय में हैं। इन लेश्याओं में संयत, असंयत, प्रमादी और अप्रमादी का भेद भी है।

प्रमादी में भी तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या होती है। उसमें शुभयोग और अशुभयोग भी होता है। अंगर वह उपयोगपूर्वक प्रवृत्ति करता है तो अनारंभी है अगर ऐसा नहीं करता तो अनारंभी नहीं है।

तेजोलेश्या आदि में समुच्चय जीव की अपेक्षा इतनी विशेषता है कि इनमें असंसारसमापन्नक (सिद्ध) नहीं कहना चाहिए, क्योंकि सिद्ध अलेश्य हैं ।

संसार-परिभ्रमण का हेतु आरंभ माना गया है । जितने आरंभ हैं, सब दोषयुक्त हैं । मुक्ति पूर्ण निर्दोष को प्राप्त होती है, दोषी को नहीं । गीता में भी कहा है कि:—

‘सर्वारम्भा हिदोषेण धूमेनाग्निरिवावृता’

जितने भी आरंभ हैं, सब दोष से व्याप्त हैं । जैसे अग्नि के बिना धूम नहीं होता, उसी प्रकार दोष के बिना आरंभ नहीं होते ।

यहाँ एक बात स्पष्ट कर देना आवश्यक है । प्रश्न होता है कि जीव का घात न करना ही आरंभ का त्याग है, या इसके लिए और भी किसी क्रिया का सेवन करना आवश्यक है ? इसका उत्तर यह है कि अगर जीव-घात न करना ही आरंभ का त्याग कहलाता तो पृथ्वीकाय के जीव भी अनारंभी कहलाते । पृथ्वीकाय के जीव स्थिर पड़े हैं । वे प्रायः किसी जीव का घात नहीं कर पाते । लेकिन इतने मात्र से पृथ्वीकाय के जीव अनारंभी नहीं हो सकते । अनारंभी होने के लिए एक और विशेषता होनी चाहिए । वह है ज्ञान, दर्शन और चारित्र की विद्यमानता । जिसमें इस रत्नत्रय का सद्भाव है, वही निरारंभी हो सकता है । अतएव अब ज्ञान का प्रकरण आरंभ होता है ।



ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य सम्बन्धी

प्रश्नोत्तर

—...*...—

मूलपाठ—

प्रश्न—इह भविष्य भंते ! एणं, पर भविष्य
नाणं, तदुभय भविष्य नाणं ?

उत्तर—गोयमा । इह भविष्य वि नाणं,
पर भविष्य वि नाणं, तदुभय भविष्य वि नाणं ।
दंसणं पि एवमेव ।

प्रश्न—इह भविष्य भंते ! चरित्ते, पर भविष्य
चरित्ते, तदुभय भविष्य चरित्ते ?

उत्तर—गोयमा । इह भविष्य चरित्ते, नो

परमविष्णु चरित्ते, नो तदुभयमविष्णु चरित्ते ।
एवं तवे, संजमे ।

संस्कृत-छाया—प्रश्न—ऐहभविकं भगवन् ! ज्ञानं, पार-
मविकं ज्ञानं, तदुभयमविकं ज्ञानम् ?

उत्तर-गौतम ! ऐहभविकमपि ज्ञानं, पारमविकमपि ज्ञानं,
तदुभयमविकमपि ज्ञानम् । दर्शनमपि एवमेव ।

प्रश्न—ऐहभविकं भगवन् ! चारित्रं, पारमविकं चारित्रं,
तदुभयमविकं चारित्रम् ?

उत्तर-गौतम ! ऐहभविकं चारित्रं, नो पारमविकं चारित्रं,
नो तदुभयमविकं चारित्रम् । एवं तपः, संयमः ।

मूलार्थ—प्रश्न—भगवन् ! क्या ज्ञान ऐहभविक है ?
पारमविक है या उभयमविक है ?

उत्तर-गौतम ! ज्ञान ऐहभविक भी है; पारमविक भी
है और उभयमविक भी है । इसी प्रकार दर्शन भी ।

प्रश्न—भगवन् ! चारित्र ऐहभविक है, पारमविक है
या उभयमविक है ?

उत्तर-गौतम ! चारित्र ऐहभविक है, पारमविक नहीं है

तथा उभयभविक भी नहीं है। इसी प्रकार तप और संयम भी समझना चाहिए।

व्याख्यान—सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्-चारित्र्य, यह तीनों मोक्ष के मार्ग हैं। इनके विषय में गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं—

हे भगवन् ! मोक्ष के अंग ज्ञान आदि को आत्मा जब एक बार प्राप्त कर लेता है, तब यह भवान्तर में साथ रहते हैं, या इसी भव में रह जाते हैं ? अर्थात् यह अगले भव में साथ जाते हैं या नहीं ?

जीव वर्त्तमान काल में जो भव भोग रहा है वह इह भव कहलाता है। इह भव का ज्ञान आगामी भव में जायगा या नहीं ?

इस प्रश्न का उत्तर यह दिया गया है कि ज्ञान तीनों तरह का है। कोई ज्ञान ऐहभविक है अर्थात् वर्त्तमान भव में ही रहता है, परमंभ में साथ नहीं जाता। कोई ज्ञान पारभविक है अर्थात् आगामी जन्म में भी आत्मा के साथ जाता है। और कोई ज्ञान उभय-भविक है अर्थात् इस भव और परमंभ में साथ रहता है।

उभयभविक ज्ञान, एक प्रकार से पारभविक ज्ञान ही है; मगर यहाँ उसे अलग ग्रहण किया है। अतएव उभय-भविक ज्ञान का अर्थ परमंभ भविक ज्ञान लेना चाहिए। तात्पर्य यह है कि कोई-कोई ज्ञान अगले जन्म से भी अगले जन्म में साथ रहता है। उसे यहाँ उभयभविक ज्ञान कहा है।

इस वर्णन से निम्नलिखित बातें स्पष्ट हो जाती हैं:—

(१) इस भव में ज्ञान नहीं है, इस कारण परभव में भी ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता, यह बात नहीं है ।

(२) परलोक में ज्ञान जाता है । ज्ञान-उपार्जन करने के लिए जो प्रयास किया गया है, उसका फल इसी जन्म में समाप्त नहीं हो जाता । एक जन्म का प्रयास अनेक जन्मों तक फलदायक होता है ।

(३) जिसने इस जन्म में ज्ञान का अध्ययन नहीं किया, उसे परभव में भी पश्चाताप करना पड़ता है । ठाण्णंग सूत्र में कहा है—जो साधु, शिक्षक का योग मिलने पर भी और भिक्षा आदि की असुविधा न होने पर भी ज्ञान की आराधना नहीं करता, वह देवभव में जाकर पश्चाताप करता है ।

जो वस्तु परलोक में साथ जाने वाली नहीं है, उसके लिए लोग प्रयत्न करते हैं, यहां तक कि ऐसी वस्तुओं के लिए ही सम्पूर्ण जीवन व्यतीत कर देते हैं, मगर जो साथ जाने वाली है, उसी के लिए प्रयत्न कम करते हैं, अथवा करते ही नहीं हैं । जो वस्तु इस भव में भी शायद ही पूरा साथ देती है, जो पल भर में नष्ट-भ्रष्ट या पराई बन जाती है, जो थोड़ी ही देर तक रुचिकर प्रतीत होती है और थोड़ी देर में अरुचिकर बन जाती है, इसी लुच्छ लीज के लिए जीवन निछावर कर देना और परभव में भी आनन्द देने वाली वस्तु की ओर उपेक्षा रखना, कितने अविवेक की बात है !

प्रतिदिन थोड़ा-थोड़ा ज्ञान प्राप्त किया जाय तो कुछ

ही दिनों में बहुत-सा ज्ञान हो सकता है; लेकिन इस और कौन ध्यान देता है !

इस प्रश्नोत्तर में उनका भी समाधान हो गया है, जो आत्मा को ज्ञानशून्य मानते हैं, अर्थात् जिनके मत के अनुसार मोक्ष में ज्ञान का अभाव हो जाता है ।

बौद्ध लोग आत्मा को क्षणिक मानते हैं । उनके मत के अनुसार परलोक में अनुयायी आत्मा नहीं है । इस प्रश्नोत्तर से उनके मत का भी खंडन हो जाता है । अगर आत्मा परलोक में न जाता तो आत्मा का ज्ञान-गुण भी कैसे जा सकता है ?

इस प्रकार गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फरमाया—हे गौतम ! ज्ञान इस भव में भी साथ रहता है, परभव में भी साथ रहता है और परतरभव में भी साथ रहता है ।

दर्शन का अर्थ यहाँ सम्यक्त्व है; क्योंकि मोक्ष-मार्ग का प्रकरण है । मोक्षमार्ग के प्रकरण में दर्शन का अर्थ सम्यक्त्व ही लिया जाता है । दर्शन के विषय में भी वही उत्तर समझना चाहिए, जो ज्ञान के सम्यन्ध में दिया गया है ।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि तत्त्वार्थसूत्र में 'सम्यग्-दर्शन-ज्ञान-चारित्र्याणि मोक्षमार्गः' इस सूत्र में पहले सम्यग्-दर्शन और उसके अनन्तर ज्ञान का उल्लेख किया है; मगर यहाँ पहले ज्ञान का और फिर दर्शन का उल्लेख किया है । इन दो क्रमों में से कौन-सा क्रम ठीक माना जाय ? इसका समाधान यह है कि वास्तविक रीति से पहले सम्यग्दर्शन

ही आता हैं, मगर उपकार की दृष्टि से पहले सम्यग्ज्ञान को ही उल्लेख किया जायगा । मेघ हटने पर सूर्य जब उदित होता है तो उसका प्रताप और प्रकाश एक साथ ही प्रकट होता है उसी प्रकार जब मिथ्यात्वमोहनीय रूपी मेघ पटल का विनाश होता है तब सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान एक ही साथ आत्म में प्रकट होते हैं । उसमें क्रम की कल्पना नहीं की जा सकती । इसी प्रकार ज्ञान और दर्शन सहभावी हैं । जहाँ ज्ञान है, वहाँ दर्शन है, जहाँ दर्शन है वहाँ ज्ञान भी है । ऐसा होने पर भी ज्ञान को सम्यक् बनाने वाला दर्शन है । अतएव कहीं-कहीं दर्शन को प्रथम स्थान दिया गया है । मगर ज्ञान के बिना श्रद्धा (सम्यक्त्व) नहीं जानी जा सकती, इसलिए ज्ञान की महत्ता प्रदर्शित करने के लिए यहाँ उसे प्रथम स्थान दिया गया है ।

अब चारित्र का प्रश्न उपस्थित होता है । गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन् ! चारित्र ऐहभविक है, पारभविक है या लभ्यभविक है ? भगवान् इसका उत्तर देते हैं—गौतम ! चारित्र इसी भव में रहता है, परभव में साथ नहीं जाता ।

चारित्र की ही तरह तप और संयम का भी प्रश्नोत्तर है । अर्थात् जैसे चारित्र परभव में साथ नहीं जाता, उसी प्रकार तप और संयम भी नहीं जाता ।

चारित्रवान् पुरुष, इस भव में जिस चारित्र से चारित्री हुआ था, परभव में भी उसी चारित्र से चारित्री हो या वही चारित्र परलोक में भी साथ जाय, यह बात नहीं है । इसी कारण चारित्र धारण करते समय यावज्जीवन की प्रतिज्ञा ली जाती है, जन्मान्तर की नहीं । चारित्र की अवाधि मृत्यु हो जाने पर पूर्ण हो जाती है ।

प्रश्न होता है कि अगर इस भव का चारित्र परभव में साथ नहीं जाता तो न सही, परभव में नया चारित्र उत्पन्न होता है या नहीं ? इसका उत्तर यह है कि मुनि सर्वचारित्री हैं और श्रावक देशचारित्री हैं । इस जन्म के पश्चात् यह दोनों ही देवगति में जाते हैं और देवगति में चारित्र का अभाव है । अतः परभव में चारित्र उत्पन्न नहीं होता ।

जो साधु मोक्ष जाते हैं, उनमें भी चारित्र की उत्पत्ति असंभव है, क्योंकि कर्मों का क्षय करने के लिए ही चारित्र का अनुष्ठान किया जाता है और कर्मों का क्षय हो जाने पर ही मोक्ष प्राप्त होता है, इसलिए मोक्ष में चारित्र की कोई उपयोगिता ही नहीं है । चारित्र धारण करते समय जीवन-पर्यन्त की प्रतिक्षा ली थी, वह पूर्ण हो गई और मोक्ष में नया चारित्र उत्पन्न नहीं होता । इस प्रकार मोक्ष में भी चारित्र नहीं है । यहाँ स्वरूप-रमण रूप चारित्र का ग्रहण नहीं किया है, मगर अनुष्ठान रूप-क्रियास्वरूप-चारित्र लिया गया है ।

शंका—चारित्रमोहनीय कर्म के क्षय से उत्पन्न होने वाला चारित्र मोक्ष में क्यों नहीं है ?

समाधान—इस शंका का समाधान पहले ही हो गया है । अनुष्ठानरूप चारित्र की मर्यादा पूर्ण हो गई, अतएव वह मोक्ष में नहीं रहा । हाँ, आत्मा का सत् चित्-आनन्द रूप सहज चारित्र मोक्ष में भी विद्यमान रहता है ।

इसके अतिरिक्त, क्रिया शरीर से होती है और सिद्ध शरीर-रहित होते हैं । अतएव सिद्ध भगवान् न चारित्री हैं, न अचारित्री ही कहे जा सकते हैं । अवत का अभाव होने से उन्हें अचारित्री नहीं कहा जा सकता ।

अब प्रश्न यह है कि तप इस भव में है, परमव में है, या दोनों भवों में है? इस प्रश्न का उत्तर चारित्र के समान ही है।

तेरहपंथियों की यह मान्यता है कि अहिंसा, संयम और तप, इस क्रम में से संयम तो ऊपर के गुणस्थानवालों में ही होता है, लेकिन तप मिथ्यात्वी को भी होता है। मगर यह मान्यता भ्रमपूर्ण है, क्योंकि तप, चारित्र से अलग नहीं है। चारित्र में ही तप का अन्तर्भाव होता है।

अनन्तानुवंधी चौकड़ी (क्रोध, मान, माया, लोभ) का क्षयोपशम या क्षय होने पर सम्यग्दृष्टि होती है और अप्रत्याख्यान—चौकड़ी का क्षयोपशम या क्षय होने पर—देश चारित्र होता है। उदाहरणार्थ—जिसकी अप्रत्याख्यानी चौकड़ी का क्षय या क्षयोपशम नहीं हुआ है, उसने अगर तेलो किया, तो वह तेलो चारित्र के अंश रूप तप में अन्तर्गत नहीं होगा, अपितु अभिग्रह रूप होगा। इस प्रकार तप और संयम चारित्र के ही अंग होने से उनके संबंध में प्रश्न और उत्तर भी उसी प्रकार के होंगे, जो चारित्र के विषय में है।

किसी-किसी का कथन है कि दर्शन से अष्ट होने वाला सिद्ध नहीं हो सकता, किन्तु चारित्रअष्ट सिद्ध हो सकता है। अतएव चारित्र की अपेक्षा दर्शन अधिक वांछनीय है और दर्शन की अपेक्षा चारित्र सामान्य वस्तु है। यह कथन शास्त्रकार को स्वीकार नहीं है। अतएव जिनका ऐसा कथन है, उन्हें गौतम! स्वामी और भगवान् महावीर के प्रश्नोत्तर में शिक्षा दी जाती है।



असंबुद्धं अणगारे सम्बन्धी

प्रश्नोत्तर—



मूलपाठ—

प्रश्न—असंबुद्धे एं भत्ते ! अणगारे किं
सिज्झइ, बुज्झइ, मुच्चइ, परिनिब्बाइ, सब्ब-
दुक्खाणं अंतं करेइ ?

उत्तर—गोयमा ! एो इणट्ठे समट्ठे ?

प्रश्न—से केणट्ठेणं, जाव-नो अंतं करेइ ?

उत्तर—गोयमा ! असंबुद्धे अणगारे आउ-
वज्जाओ सत्तकम्मपगडीओ सिढिलबंधणव-
द्धाओ धणियबंधणवद्धाओ पकरेइ; हस्सकाल-
ठिइयाओ दीहकालाठिइयाओ पकरेइ, मंदा-
णुभावाओ तिब्बाणुभावाओ पकरेइ, अप्पप्प-

सग्गाओ बहुप्पएसग्गाओ पकरेइ; आउयं च
 णं कम्मं सिय वंधइ, सिय नो वंधइ । अस्साया-
 वेयणिज्जं च णं कम्मं भुज्जो भुज्जो उवचिणइ,
 अणाइयं च णं अणवयग्गं दीहमद्धं चाउरंत-
 संसारकंतरं अणुपरियट्ठइ । से तेणट्ठेणं
 गोयमा ! असंवुडे अणगारे णो सिज्झइ, जाव-
 णो अंतं करेइ ।

संस्कृत-छाया—प्रश्न—असंवृतो भगवन् ! अनगारः किं
 सिध्यति, बुध्यते, मुच्यते, प्रेक्षिर्नाति, सर्वदुःखानामन्तं करोति ?

उत्तर—गौतम ! नायमर्थः समर्थः ।

प्रश्न—तत् केनार्थेन, यावद्—नो अन्तं करोति ?

उत्तर—गौतम ! असंवृते ऽनगार आयुर्वर्जाः सप्तकर्मप्रकृतीः
 शिथिलवन्वनवद्वाः गाढवन्वनवद्वा प्रकरोति, ह्रस्वकालस्थितिकाः दीर्घ-
 कालस्थितिकाः प्रकरोति, मन्दानुभावास्तीवानुभावाः प्रकरोति, अस्यप्रदे-
 शाप्रा बहुप्रदेशाप्राः प्रकरोति, आयुष्कं च कर्म स्याद् वज्जाति, स्याद् न
 वज्जाति । असातावेदनीयं च कर्म भूयो भूय उचिनाति, अनादिकं च अ-
 नवनताप्रं, दीर्घाव्यम्, च तुरन्तसंसारकान्तरमनुपर्यटति । तत् तेनार्थेन
 गौतम ! असंवृतोऽनगारो नो सिध्यति, यावद् नो अन्तं करोति ।

मूलार्थ—प्रश्न—भगवन् ! क्या असंवृत अनगार सिद्ध होता है, बुद्ध होता है, मुक्त होता है, निर्वाण प्राप्त करता है, सब दुःखों का अन्त करता है ?

उत्तर—गौतम ! यह अर्थ समर्थ-ठीक-नहीं है ।

प्रश्न—भगवन् ! तो किस कारण से यावत् दुःखों का अंत नहीं करता ?

उत्तर—गौतम ! असंवृत अनगार आयु को छोड़ कर शिथिल बंध से बाँधी हुई सात कर्म-प्रकृतियों को घन रूप में बांधना आरंभ करता है, अल्पकालीन स्थिति वाली प्रकृतियों को दीर्घ कालीन स्थिति वाली करता है, मंद अनुभाग वाली प्रकृतियों को तीव्र अनुभाग वाली करता है और थोड़े प्रदेश वाली प्रकृतियों को बहुत प्रदेश वाली बनाता है । और आयु कर्म को कभी बांधता है । कभी नहीं भी बांधता । असाता वेदनीय कर्म को बारंबार उपार्जन करता है । तथा अनादि अनंत, दीर्घ मार्ग वाले, चतुर्गति रूप संसार रूपी अरण्य में बार-बार पर्यटन करता है । इस कारण हे गौतम ! असंवृत अनगार सिद्ध नहीं होता, यावत्-सर्व दुःखों का अंत नहीं करता ।

व्याख्यान—श्रीगौतम स्वामी प्रश्न करते हैं कि—हे भगवन् ! असंवृत अनगार क्या सिद्ध गति को प्राप्त करता

है ? वह क्या बुद्ध होता है ? मुक्त होता है ? निर्वाण पाता है ? समस्त दुःखों का अंत करता है ?

इस प्रश्न का उत्तर समझने से पहले यह जान लेना आवश्यक है कि असंवृत अनगार किसे कहते हैं ? जिसने आस्रवद्वार को नहीं रोका है, अर्थात् जो कर्म का आस्रव करने वाली क्रियाएँ करता है, जिसकी प्रवृत्ति हिंसा और मृषावाद आदि में है, जो अदत्त को ग्रहण करता है, जो ब्रह्म-चर्य का भी भली भाँति पालन नहीं करता, जो अपरिग्रही भी नहीं है, फिर भी जो अनगार कहलाता है, उसे असंवृत अनगार समझना चाहिए ।

प्रश्न होता है — जिसमें साधु के अहिंसा आदि लक्षण ही नहीं पाये जाते, उसे अनगार या साधु क्यों कहा जाय ? इसका उत्तर यह है कि यद्यपि वह वास्तव में साधु नहीं है, फिर भी अपने आपको साधु के रूप में प्रसिद्ध करता है, बाह्य चिह्न भी वह साधु के ही रखता है, इस कारण लोक में वह साधु कहलाता है । मगर क्योंकि वह साधु के सम्पूर्ण आचार का पालन नहीं करता, इसलिए केवल नाम और भेष के उस साधु को यहां असंवृत (असंबुद्ध) अनगार कहा है । ऐसा साधु क्या मुक्ति प्राप्त करता है ? यह गौतम स्वामी का प्रश्न है ।

चरम भव-अंतिम जन्म-की प्राप्ति होने पर सिद्धि प्राप्त होती है । अतएव 'सिद्ध होता है' इस क्रिया-पद का अर्थ यहाँ यह समझना चाहिए—'चरम भव प्राप्त करके मोक्ष के योग्य होता है ?'

चरम भव प्राप्त करने पर भी बुद्ध सब नहीं होते ।

जिन्हें केवल ज्ञान प्राप्त हो जाता है, उन्हें बुद्ध कहते हैं। तात्पर्य यह है कि चरम शरीरी मनुष्य को भावी नय की अपेक्षा से सिद्ध कह सकते हैं, लेकिन बुद्ध तभी कहेंगे जब केवल ज्ञान प्राप्त हो जाय। अतएव यहाँ बुद्ध होने का अर्थ-केवलज्ञानी होता है।

मूल पाठ में तीसरा पद 'मुच्चइ' है, जिस जीव को केवलज्ञान प्राप्त हो चुका है-जो बुद्ध हो गया है-उसके सिर्फ भवोपग्राही कर्म शेष रहते हैं। जब वह भवोपग्राही कर्म को प्रतिलक्षण छोड़ता है, तब 'मुक्त' कहलाता है।

द्वितीय पद 'परिनिब्बाइ' है। 'भवोपग्राही' कर्म को प्रतिलक्षण छोड़ने वाला वह महापुरुष कर्मपुद्गलों को ज्यों ज्यों क्षीण करता जाता है, त्यों-त्यों शीतल होता जाता है। इस प्रकार की शीतलता प्राप्त करना ही निर्वाण प्राप्त करना कहलाता है।

निर्वाण के विषय में बौद्धों की मान्यता कुछ विलक्षण ही है। एक बार बुद्ध से पूछा गया—'मुक्त जीव कहाँ जाता है?' इस प्रश्न के उत्तर में बुद्ध ने प्रश्न किया—'दीपक बुझ कर कहाँ जाता है?' जब उनसे यह कहा गया कि दीपक बुझने पर कुछ शेष नहीं रहता-दीपक शून्य रूप में परिणत हो जाता है; तब बुद्ध ने कहा—इसी प्रकार मुक्त होने पर जीव शून्य हो जाता है, कुछ भी नहीं रह जाता। मगर वास्तविक बात यह नहीं है। किसी भी सत् वस्तु का सर्वथा नाश नहीं होता। जो है, वह सदा रहेगी ही। उसकी अवस्थाओं में परिवर्तन तो होगा, मगर उसका सर्वथा नाश होना संभव नहीं है। दीपक का भी सर्वथा नाश नहीं हो

जाता है। दीपक तेज के परमाणुओं का समुदाय है। जब वह धुझता है तो तेज के परमाणु, अन्धकार के परमाणुओं के रूप में परिणत हो जाते हैं—सर्वथा नष्ट नहीं हो सकते। तेज और अन्धकार, दोनों ही पौद्गलिक हैं और उनमें यह अवस्था-भेद होता रहता है। अतएव दीपक, द्रव्य रूप से कायम रहता है।

इस विषय का विस्तारपूर्वक विचार न्यायशास्त्र में किया गया है। वह जरा गहन विचार है, अतएव यहाँ इसे छोड़ देते हैं। तात्पर्य यह है कि जैसे दीपक धुझ जाने पर भी सर्वथा नष्ट नहीं होता—तामस परमाणुओं के रूप में पलट जाता है और द्रव्य रूप से विद्यमान रहता है, उसी प्रकार मुक्त जीव भी, द्रव्य दृष्टि से विद्यमान रहता है। उसकी पहले की अवस्था बदलती है, नवीन अवस्था उत्पन्न होती है, मगर द्रव्य से आत्मा नष्ट नहीं होता।

जिस जीव ने चरम भव प्राप्त किया, केवलज्ञान भी पा लिया, जो भवोपग्राही कर्मों को क्षीण कर रहा है, वही जीव अपने चरम भवके अन्त में, जब सब कर्म-श्रंशों को क्षय कर चुकता है, तब उसके समस्त दुःखों का अन्त होता है। दुःखों का सर्वथा अन्त होने पर शुद्ध सुख ही सुख शेष रह जाता है।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि वास्तव में कर्म ही दुःख हैं। वह कर्म भले ही उच्च गति के कारण हों, लेकिन हैं दुःख रूप ही। सब कर्मों से मुक्त होना ही सब दुःखों का अन्त करना कहलाता है। कर्म की उपाधि से मिलने वाला सुख वास्तविक रूप में दुःख ही है। कर्म के उदय से प्राप्त होने वाले दुःख को तो सभी दुःख मानते हैं, मगर ज्ञानी

जन कर्म से प्राप्त होने वाले सुख को भी दुःख रूप ही मानते हैं। अगर ऐसा न माना जाय तो आत्मा का विकास नहीं हो संकंता और सहज-सिद्ध शाश्वत सुख की प्राप्ति भी नहीं हो सकती।

गौतम स्वामी का प्रश्न है कि असंवृत अनगार क्या इस गति को प्राप्त करता है? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् फर्मते हैं—हे गौतम ! ऐसी बात नहीं है, अर्थात् असंवृत अनगार मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता।

भगवान् का संक्षिप्त उत्तर सुनकर गौतम स्वामी फिर पूछते हैं:—प्रभो ! असंवृत अनगार मुक्ति क्यों प्राप्त नहीं कर सकते ? वह भी तो अनगार हुए हैं। भगवान् फर्मते हैं—गौतम बाह्य अनगारपन ही मोक्ष का कारण नहीं है। आसन्न का त्याग ही वास्तविक अनगारपन है और वही मोक्ष का हेतु है। केवल घर-द्वार का त्याग कर देने से ही कोई सच्चा अनगार नहीं हो जाता और न मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

हे गौतम ! अनगार हो करके भी जो आसन्न को नहीं रोकता है, उसकी क्या स्थिति होती है, यह ध्यान पूर्वक सुन। वह असंवृत अनगार आयु कर्म के सिवाय सात कर्मों को पुष्ट करता है।

भगवान् ने यह उत्तर क्यों दिया है, इस सम्बन्ध में टीकाकार कहते हैं—इस संबंध में आगे विचार किया जायगा। असंवृत अनगार की मोक्ष-प्राप्ति अनेक दोष रूपी सुद्धारों से चूर्ण हो जाती है। अर्थात् असंवृत को मोक्ष मानने से अनेक प्रबल दोष आते हैं। उन पर आगे प्रकाश डाला गया है।

जो लोग चारित्र-भ्रष्ट को भी मोक्ष मानते हैं, उनकी मान्यता को दूषित करने के लिए यह कथन किया गया है।

यहाँ आयुर्कर्म को पृथक् कर दिया है, क्योंकि वह बार-बार नहीं बँधता, वह एक एक भव में एक बार ही बँधता है और वह भी एक अन्तर्मुहूर्त्त में ही बँध जाता है। शेष सात कर्मों को, अगर वे शिथिल बँधे हों तो मज्जवृत्त रूप से बाँध लेता है। मोक्ष, कर्मों का, सर्वथा नाश होने पर होता है और असंवृत अनगार कर्मों को और अधिक सुदृढ़ बनाता है। ऐसी स्थिति में उसे मोक्ष कैसे प्राप्त हो सकता है ?

असंवृत अनगार ढीले कर्मों को मज्जवृत्त करता है, रखे कर्मों को चिकने करता है, अर्थात् आत्मप्रदेशों के साथ कर्मों का प्रगाढ़ संबंध कर लेता है।

यहाँ शुभ कर्म का ग्रहण न करके अशुभ कर्म का ही ग्रहण करना चाहिए। क्योंकि यहाँ असंवृत अनगार की निन्दा का प्रकरण है। तात्पर्य यह है कि असंवृत अनगार अशुभ कर्मों को ही मज्जवृत्त करता है, शुभ कर्मों को नहीं। असंवृत अनगार पहले के अशुभ कर्म के बंध को निधत्त कर लेता है और निधत्त को निःकाचित के रूप में परिणत करता है।

‘पकरेह’ पद में जो ‘प्र’ उपसर्ग है, वह प्रारंभ का सूचक है। असंवृत अनगार कर्मों को प्रगाढ़ बंधन में बाँधना प्रारंभ करता है। इसी प्रकार अन्यत्र समझना चाहिए।

असंवृत अनगार की आस्रव में जो प्रवृत्ति होती है, वह प्रकृति बंध रूप है, क्योंकि असंवृतपन अशुभ योग रूप होता है और योग से प्रकृतिबंध होता है। कहा भी है—

जोगा पयडियएसं ।

अर्थात्—योग से प्रकृतिबंध और प्रदेशबंध होता है ।

असंवृत अनगार थोड़ी स्थिति वाली कर्म-प्रकृतियों को दीर्घकाल की स्थिति वाली बना लेता है, क्योंकि असंवृतपन कषायरूप भी है और कषाय स्थितिबंध का कारण है । इस संबंध में कहा है—

ठिड् अणुभागं कसायओ कुण्ड ।

अर्थात्—स्थितिबंध और अनुभागबंध कषाय से होते हैं ।

अनुभाग का अर्थ है—रस । असंवृत अनगार मंद रस वाली कर्म-प्रकृतियों को तीव्र रस वाली बनाना आरंभ करता है । अर्थात् पतले रस वाले कर्मों को गाढ़े रस वाले बनाता है । जैसे नीम के पत्ते का रस पतला होता है । उसे औटाया तो वह गाढ़ा हो गया । वह जितना गाढ़ा होगा, उतना ही अधिक कटुक होगा । इसी प्रकार असंवृत अनगार पतले रस वाले कर्मों को गाढ़े रस वाले करता है, जिससे कि उन कर्मों में तीव्र फल देने की शक्ति आ जाती है । रसबंध भी कषाय से होता है और असंवृत अनगार में कषाय की तीव्रता होती है ।

कर्म-बंध के चार प्रकार हैं—प्रकृतिबंध, प्रदेशबंध, स्थितिबंध और अनुभागबंध । इनमें प्रकृति और प्रदेश बंध योग से होते हैं और स्थिति तथा अनुभागबंध कषाय से होते हैं । असंवृत अनगार का योग अशुभ होता है और कषाय तीव्र होते हैं । इसलिए वह चारों ही बंधों में वृद्धि करता है ।

योग और कृपाय की प्रवृत्ति प्रायः साथ ही होती है । दोनों के लिए एक शब्द का प्रयोग किया जाय तो 'लेश्या' शब्द का प्रयोग किया जा सकता है । संक्षेप में कहा जा सकता है कि जैसी लेश्या होगी, वैसा ही कर्म बंधेगा ।

असंवृत अनगार थोड़े प्रदेश वाले कर्म-दलिकों को बहुप्रदेशी दलिक बना लेता है । प्रदेश बंध योग से होता है और असंवृत अनगार में अशुभ योग विद्यमान रहता है ।

असंवृत अनगार असातावेदनीय कर्म का बार-बार उपचय करता है । यहाँ यह आशंका की जा सकती है कि असातावेदनीय कर्म, सात कर्मों के अन्तर्गत वेदनीय कर्म में आ गया है । फिर उसे अलग क्यों कहा गया ?

इसका उत्तर यह है कि असंवृत अनगार अत्यन्त दुःखी होता है, यह प्रकट करने के लिए असातावेदनीय कर्म का पृथक् उल्लेख किया है । इससे यह शिक्षा मिलती है कि असाता से बचने के लिए असंवृतपन का त्याग करना चाहिए ।

यह सब वर्णन असंवृत अनगार को लक्ष्य करके किया गया है । जो पुरुष साधु होकर भी सुख की आन्ति से आस्रव में प्रवृत्त होता है, उसके लिए शास्त्र कहता है-तू आस्रव की प्रवृत्ति में मत पड़ । ऐसा करेगा तो दुखी होगा । संसार के सुख की लालसा मिटने से पाप मिटता है । लेकिन आश्चर्य तो यह है कि संसार के सुख को दुख रूप समझ लेने पर भी उसकी लालसा नहीं मिटती ! इसी भ्रमण के कारण पाप में पड़ना पड़ता है । उदाहरण के लिए अफीम संभ्रमण । अफीम की सुख के लिए अफीम खाता है और समझता है कि मैं इस पर आधिपत्य रखूंगा लेकिन अफीम उसी घर का बच्चा

कर लेती है और वह उसके अधीन होकर दुःखी बन जाता है। जूआ, वेश्या सेवन आदि दुर्व्यसनों में भी सुख की लालसा से ही प्रवृत्ति की जाती है, लेकिन जुआरियों और वेश्यागामियों का जीवन स्पष्ट बतलाता है कि वे किस बुरी तरह आपदाओं में पड़कर घोर दुःख के भागी होते हैं। उनकी विवेक हीन प्रवृत्ति सुख के बदले दुःख के पहाड़ उसके सिर पर पटक देती है। अतएव सुख की भ्रमणा में पड़कर दुःख के कारण भूत असंवृतपन को अंगीकार करना घोर अज्ञान है। उससे यत्न पूर्वक साधुओं को सदा बचते रहना चाहिए।

यह वर्णन करके भगवान् ने आस्रव-द्वार की प्रवृत्ति से डराया है। क्या भगवान् डराते हैं? वे अभयंकर होते हैं। वे भय को भंजन करते हैं। मगर मुनि के निमित्त से कोई भयभीत हो जाय तो मुनि को प्रायश्चित्त लगता है। फिर भगवान् ने क्यों डराया है? यह प्रश्न किसी को उठ सकता है। मगर देखना यह चाहिए कि भगवान् का वास्तविक उद्देश्य क्या है? भगवान् ने किन बातों से डराया है? धर्म से डराने और पाप से डराने में बहुत अन्तर है। भगवान् ने यह सूत्र पाप से डराने के लिए कहे हैं, जिससे सामान्य लोग पाप से दूर रहें और अकल्याण से बच जाएँ। वस्तु के स्वरूप का यथातथ्य वर्णन कर देना दोष नहीं है और करुणा भाव से ऐसा करना महान् गुण है। यह वर्णन असंवर से डराने वाला होते हुए भी सच्ची निर्भयता का कारण है, संसार के भयों से छुड़ाने वाला है, दुःखों से बचाने वाला है और परम कल्याण का कारण है। इस वर्णन का असली उद्देश्य असाधुता से बचाना है। अतएव यह दोषपूर्ण नहीं है, वरन्

चतुर और करुणावान् वैद्य द्वारा प्रयुक्त चिकित्सा के समान मंगल-साधन करने वाला है ।

भगवान् कहते हैं—गौतम ! असंवृत अनगार अपार संसार रूपी अरण्य में भ्रमण करेगा । गौतम स्वामी ने भगवान् से पूछा था कि असंवृत अनगार क्या मोक्ष जाएगा ? उसका उत्तर भगवान् ने दिया—नहीं, वह अपार संसार में भ्रमण करेगा ।

क्या गौतम स्वामी को यह मालूम नहीं था कि असाधु मोक्ष नहीं जाते ? अगर मालूम था तो भगवान् से उन्होंने किस लिए पूछा ? कुछ लोगों का कथन था कि चारित्र-भ्रष्ट भी मोक्ष जा सकता है । जो लोग चारित्र-भ्रष्ट को भी मोक्ष मानते थे, उन्हें चारित्र का महत्त्व बताने के लिए, यह बात स्वयं न कह कर भगवान् के मुख से कहलाई है । अगर गौतम स्वामी स्वयं ही कह देते तो भी हमारे लिए यह बात मान्य ही होती, तथापि उसे विशेष प्रभावशाली बनाने के लिए उन्होंने संपूर्ण-ज्ञानी भगवान् से कहलाना ही उचित समझा ।

असंवृत अनगार जिस संसार में भ्रमण करता है, उसके लिए भगवान् ने अणाइयं, अणवयगं और दीहमद्धं आदि विशेषण लगाये हैं । इन विशेषणों का अर्थ क्या है, यह संक्षेप में बतलाया जाता है ।

पहला विशेषण 'अणाइयं' है । अणाइयं का अर्थ है अनादिकं अर्थात् जिसकी आदि न हो । दूसरा अर्थ है—अज्ञातिकं-जातिहीन अर्थात् जिसका कोई स्वजन नहीं रहता, ऐसे पापकर्म बाधता है । तीसरा अर्थ है—ऋणातीतम् ।

अर्थात् ऋण से होने वाले दुःख की अपेक्षा भी अधिक दुःख-दायी। जिसके सिर पर ऋण होता है, उसे शान्ति नहीं मिलती। कहावत है—‘ऋणकर्त्ता पिता शत्रुः’ अर्थात् ऋण (कर्ज) करने वाला पिता अपने पुत्र का शत्रु है। जिस पर ऋण होता है, उसे घोर दुःख होता है। उसकी स्थिति सदैव विगड़ी रहती है। वह घड़ी भर चैन नहीं लेने पाता। सदा संताप एवं अशान्ति के कारण ऋणी को बड़ी व्यग्रता रहती है। अतएव यहाँ संसार का ‘अणाइयं’ विशेषण ऋणातीतम् है, जिसका अर्थ है—ऋण के दुःख से भी अधिक दुःख वाला। ऐसे संसार में असंवृत अनगार को भ्रमण करना है।

अणाइयं का चौथा अर्थ है—अणातीतम्। ‘अण’ का अर्थ ‘पाप’ है और अणातीत का अर्थ है—अतिशय पाप। सारांश यह है कि संसार में पाप तो अनेक हैं, मगर साधु होकर आस्रवका सेवन करना सब पापों से बढ़ कर पाप है, इसलिए असंवृत अनगार अतिशय पापरूप संसार में भ्रमण करता है।

संसार का दूसरा विशेषण है—अणवयगं। यहाँ ‘अवयग’ शब्द देशी प्राकृत भाषा का है, जिसका अर्थ होता है—अन्त। इसमें निषेध वाचक ‘अण’ लगा देने से ‘अणवयग’ शब्द बना है। ‘अणवयग’ का अर्थ अनन्त है।

अथवा ‘अवयग’ शब्द का अर्थ है—जिसका अन्त समीप हो। उसमें निषेधवाची ‘अण’ लगा देने से यह अर्थ होता है—जिसका अन्त समीप न हो।

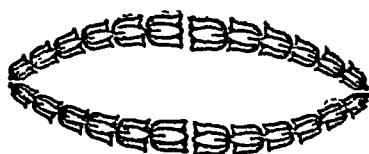
अथवा—‘अणवयगं’ का अर्थ ‘अनवताग्रम्’ है। जिसका परिमाण ज्ञात न हो, जिसके अन्त का पता न चले, वह ‘अनवताग्र’ कहलाता है।

तीसरा विशेषण—‘दीहमद्ध’ है। अथ का अर्थ मार्ग है, और दीह का अर्थ दीर्घ (लम्बा) है। जिसका मार्ग लम्बा हो, वह ‘दीहमद्ध’ कहलाता है। अथवा दीर्घकाल वाले को ‘दीहमद्ध’ कहते हैं।

चौथा विशेषण ‘चाउरंत’ है। चाउरंत का अर्थ है—चार विभाग वाला। देवगति, मनुष्यगति, तिर्यञ्चगति और नरकगति, इस प्रकार चार विभाग जिसमें हैं वह (संसार) चाउरंत (चातुरन्तक) कहलाता है।

इस प्रकार के विशेषणों वाले संसार—कान्तार में अर्थात् भव-वन में असंवृत अनगार बार-बार परिभ्रमण करता है।

इस सब का आशय यह है कि असंवृत अनगार ऐसे संसार रूपी वन में भ्रमण करता है, जिसमें दुःख ही दुःख है, जिसके अन्त का कोई प्रमाण नहीं है, जिसकी समाप्ति का पता नहीं है, जिसका मार्ग लम्बा है और जिसके चार गति रूप चार विभाग हैं।



संवृत्त अणगारे सम्बन्धों प्रश्न



मूलपाठ—

प्रश्न—संवुडे एं भंते ! अणगारे सिज्झइ,
जाव-सव्वदुक्खाणं अंतं करेइ ?

उत्तर—हंता, सिज्झइ, जाव- अंतं
करेइ ।

प्रश्न—से केणट्ठेणं ?

उत्तर—गोयमा ! संवुडे अणगारे आ-
उयवज्जाओ सत्तकम्मपगडीओ धणियबंधण-
बद्धाओ सिढिलबंधणबद्धाओ पकरेइ, दीह-
कालट्ठिइयाओ हस्सकालट्ठिइयाओ पकरेइ,
तिव्वाणुभावाओ मंदाणुभावाओ पकरेइ, बहुप्प-

एसग्गाओ अप्पएसग्गाओ पकरेइ, आउयं च
 णं कम्मं ए बंधइ । असायावेयणिज्जं च णं
 कम्मं नो भुज्जो भुज्जो उवचिणइ । अणादीयं
 च णं अणवदग्गं, दीहमद्धं, चाउरंतसंसारकंतारं
 वीईवयइ, से तेण्ण्णं गोयमा ! एवं वुच्चइ—
 'संवुडे अणगारे सिज्झइ जाव अंतं करेइ' ।

संस्कृत-छाया—प्रश्न-संवृतो भगवन् ! अनगारः सिद्ध्यति,
 यावत् सर्वदुःखानामन्तं करोति ?

उत्तर—इन्त, सिद्ध्यति यावत्-अन्तं करोति ।

प्रश्न -- तत् केनार्येन ?

उत्तर----गौतम ! संवृतोऽनगार आयुर्वर्जाः सप्तकर्मप्रकृतिः
 गः ढ्वन्धनबद्धाः शिथिलबन्धनबद्धाः प्रकरोति, दीर्घकालस्थितिकाः
 ह्रस्वकालस्थितिकाः प्रकरोति, तीव्रानुभावा मन्दानुभावा प्रकरोति, बहु-
 प्रदेशाग्रा अल्पप्रदेशाग्राः प्रकरोति, आयुष्कं च कर्म न बध्नाति ।
 असातावेदनीयं च कर्म नो भूयो भूयः उपचिनोति । अनादिकं,
 चानवनताग्रं, दीर्घाध्वं चातुरन्तसंसारकान्तारं व्यतिव्रजति । तत्
 तेनार्येन गौतम ! एवमुच्यते संवृतोऽनगारः सिद्ध्यति यावद् अन्तं
 करोति ।

मूलार्थ—प्रश्न—भगवन् ! संवृत अनगार सिद्ध होता है ? यावत् सब दुःखों का अन्त करता है ?

उत्तर—हाँ, सिद्ध होता है, यावत् सब दुःखों का अन्त करता है ।

प्रश्न—सो किस हेतु से भगवन् ?

उत्तर—गौतम ! संवृत अनगार आयु को छोड़ कर सात गाढ़ी बांधी हुई कर्म-प्रकृतियों को शिथिल बंध वाली करता है, दीर्घकालीन स्थिति वाली प्रकृतियों को अल्प-कालीन स्थिति वाली बनाता है, तीव्र फल देने वाली प्रकृतियों को मन्द फल देने वाली बनाता है, बहुत प्रदेश वाली प्रकृतियों को अल्प प्रदेश वाली बनाता है । आयुष्य कर्म का बंध नहीं करता है । तथा असातावेदनीय कर्म का बार-बार उपचय नहीं करता है । इस लिए अनादि, अनंत लंघे मार्ग वाले, चातुरन्तक चार प्रकार की गति वाले-संसार रूपी वन का उल्लंघन करता है । इस लिए हे गौतम ! संवृत अनगार सिद्ध होता है यावत् सब दुःखों का अन्त करता है, ऐसा कहा जाता है ।

व्याख्यान—असंवृत अनगार के विषय में कहा जा चुका है । प्रस्तुत प्रश्नोत्तर में संवृत अनगार की चर्चा की गई है । आस्रवद्वार का निरोध करके संवर की साधना करने

वाला मुनि संवृत अनगार कहलाता है। गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवान्! संवृत अनगार सिद्ध, बुद्ध, मुरु होता है और निर्वाण पाता है? गौतम स्वामी के इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा—हाँ गौतम! पाता है।

संवृत अनगार छठे गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान तक होते हैं। छठे गुणस्थानवर्त्ती प्रमत्त और सातवें से चौदहवें गुणस्थान तक के अप्रमत्त होते हैं। यहाँ किस गुणस्थानवर्त्ती संवृत अनगार से प्रयोजन है?

इस सम्वन्ध में कहा गया है—संवृत अनगार चरम-शरीरी और अचरमशरीरी के भेद से दो प्रकार के हैं। जो दूसरा शरीर धारण नहीं करेंगे वह चरमशरीरी कहलाते हैं। जिन्हें दूसरी देह धारण करनी पड़ेगी वह अचरमशरीरी हैं। गौतम स्वामी और भगवान् के यह प्रश्नोत्तर चरमशरीरी की अपेक्षा से हैं। अचरमशरीरी के विषय में नहीं हैं। इस के लिए एक सूत्र की दो गति करनी चाहिए—एक परम्परा और दूसरी साक्षात्। अर्थात् साक्षात्—इसी भव से सिद्धि होगी और परम्परा से अगले किसी भव में सिद्धि प्राप्त होगी चरमशरीरी इसी भव से मोक्ष जाएँगे अतएव यह सूत्र उन पर साक्षात् रूप से लागू होता है। अचरमशरीरी सात-आठ भव में मोक्ष जाएँगे, अतएव उनके लिए परम्परा से सिद्धि होगी, ऐसा समझना चाहिए।

इस समाधान से एक प्रश्न नया उपस्थित होता है। वह यह कि परम्परा से तो शुक्लपत्नी असंवृत अनगार भी मोक्ष प्राप्त करेंगे। फिर संवृत और असंवृत अनगार का भेद करने से क्या लाभ है?

मुह-पट्टणाऽऽसम-सणिणवेसेसु अकामतरहाए,
अकामलुहाए, अकामवंभचेरवासेणं, अकाम-
सीताऽऽतव-दंसमसग-अकामअणहाणग-सेय-ज-
ल्लमल-पंक-परिदाहेणं, अप्पतरो वा भुज्जतरो वा
कालं अप्पाणं परिकिलेसंति, अप्पाणं परिकिले
सित्ता कालमासे कालं किञ्चा, अन्नयरेसु वाए
मंतरेसु, देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति ।

संस्कृत छाया—प्रश्न—जीवो भगवन् ! असंपतः, अविर-
तिकः, अप्रतिहतप्रत्याख्यात पापकर्मा, इतश्च्युतः प्रेत्य देवः स्यात् ?

उत्तर—गौतम ! अस्ति एकको देवः स्यात्, अस्ति एकको
नो देवः स्यात् ।

प्रश्न—तत्कोनार्थेन, यावद्-इतश्च्युतः प्रेत्य अस्त्येकको देवः
स्यात्, अस्त्येकको नो देवः स्यात् ?

उत्तर—गौतम ! ये इमे जीवा ग्रामाऽऽकर-नगर-निगम-राज-
धानी-खेट-मडम्ब-द्रोणमुख-पट्टनाऽऽश्रम-सन्निवेशेषु, अकामतृषा, अ-
कामक्षुधा, अकामब्रह्मचर्यवासेन, अकामशीताऽऽतप-दंशमशक-अका-
मअस्नानक-स्वेद-जल्लु-मल-पङ्कपरिदाहेनाऽऽप्यतरं वा भूयस्तरं वा काल
मात्मानं परिक्लेशयन्ति, आत्मानं परिक्लेश्य कालमासे कालं कृत्वा

अन्यतरेषु वानव्यन्तरेषु देवलोकेषु देवतया उपपत्तारो भवन्ति ।

मूलार्थ-प्रश्न—हे भगवन् ! असंयत, अविरत और पापकर्म का इनन तथा त्याग न करने वाला जीव इस लोक से चयकर-मर कर-परलोक में देव होता है ?

उत्तर—गौतम ! कितनेक देव होते हैं, कितनेक देव नहीं होते ।

प्रश्न—भगवन् ! यहाँ से चयकर यावत्-पूर्वोक्त जीव, कोई देव होते हैं, कोई देव नहीं होते, इसका क्या कारण है ?

उत्तर—गौतम ! जो जीव ग्राम, आकर, नगर, निगम, राजधानी, खेट, कर्वट, मडम्ब, द्रोणमुख, पट्टन, आश्रम तथा सन्निवेश में अकाम तृषा से, अकाम लुधा से, अकाम ब्रह्मचर्य से, अकाम शीत आतप तथा डांस-मच्छरों के काटने के दुःख को सहन करने से, अकाम अस्नान, पसीना, जल, मैल तथा पंक (कीचड़) से होने वाले परिदाह से, थोड़े समय तक या बहुत समय तक अपने आत्मा को क्लेशित करते हैं । वे आत्मा को क्लेशित करके, मृत्यु के समय मर कर वान-व्यन्तर देवलोकों के किसी देवलोक में, देव रूप से उत्पन्न होते हैं ।

व्याख्यान—गौतम स्वामी ने असंवृत और संवृत

अनगार की गति के सम्बन्ध में प्रश्न किये और भगवान् ने उन प्रश्नों के उत्तर भी दिये। लेकिन संसार में और भी जीव हैं जो संवृत या असंवृत अनगार नहीं हैं। वे असंयत और अविरत कहलाते हैं। वे इस भव के पश्चात् देवगति में जाते हैं या नहीं ? यह गौतम स्वामी का प्रश्न है।

इस प्रश्न का अभिप्राय यह है कि मनुष्य गति मिलना कठिन है, लेकिन देवगति का मिलना उतना कठिन नहीं है। इसी अभिप्राय से गौतम स्वामी ने प्रश्न किया है कि-भगवन् ! जो जीव असंयत हैं, असाधु हैं, वे यहाँ से मर कर देवगति प्राप्त करते हैं ? असंयम वाला सम्यग्दृष्टि भी हो सकता है, इसलिये यहाँ स्पष्ट कर दिया है कि जिसने प्राणातिपात आदि के व्रत-प्रत्याख्यान नहीं धारे हैं। अथवा 'वि' अर्थात् विशेष प्रकार की 'रति' अर्थात् तल्लीनता होना, तात्पर्य यह कि जिसमें तप आदि के प्रति विशेष तल्लीनता नहीं है, वह अविरत कहलाता है।

जिसने भूतकालीन पाप को निन्दा-गर्हा आदि के द्वारा दूर कर दिया हो वह प्रतिहत-पाप-कर्मा कहलाता है। जिसने भविष्यकालीन पापों का त्याग कर दिया हो वह प्रत्याख्यात-पापकर्मा कहलाता है। यहाँ पाप से हिंसा, असत्य, चोरी आदि अठारह पाप समझने चाहिए। जो मनुष्य पाप-कर्मा को प्रतिहत और प्रत्याख्यात नहीं करता अर्थात् जो भूतकाल के पापों की आलोचना नहीं करता और भविष्य के पापों का त्याग नहीं करता, वह अप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा कहलाता है।

प्रश्न में 'अस्संजण अविरइए' पाठ आया है। इसका

अर्थ है, जिसने संयम धारण नहीं किया और जिसने तप-विशेष को नहीं अपनाया है ।

यहाँ शंका हो सकती है कि जब असंयमी कह दिया था, तब अविरत कहने की क्या आवश्यकता थी ? इसका उत्तर यह है कि वर्तमान काल के पाप का निरोध न करने वाले का बोध कराने के लिए अविरत शब्द का प्रयोग किया है ।

एक आचार्य इन शब्दों का अर्थ दूसरा लेते हैं । उनके मत के अनुसार मरणकाल से पहले तप आदि द्वारा जिसने पाप का नाश न किया हो, वह अप्रतिहत पापकर्मा कहलाता है । और मृत्युकाल आजाने पर भी पाप का नाश न करने वाला अप्रत्याख्यातपापकर्मा है । तात्पर्य यह है कि जिसने न मृत्यु से पहले पापों का त्याग किया, न मृत्यु आने पर ही त्याग किया, वह अप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा कहलाता है ।

अप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा का एक अर्थ और भी लिया जाता है । जिसने सम्यग्दर्शन की प्राप्ति करके पापकर्मों का नष्ट नहीं किया वह अप्रतिहतपापकर्मा कहलाता है । शुद्ध धर्मा धारण करना, पूर्व के पापों का नाश करना कहलाता है । और सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाने पर सर्वधिरति आदि अंगीकार करके पाप-कर्मों का निरोध न करने वाला अप्रत्याख्यातपापकर्मा कहलाता है । इस प्रकार जिसने न सम्यक् श्रद्धा धारण की और न व्रत धारण किये वह अप्रतिहत-प्रत्याख्यातपापकर्मा कहलाता है ।

गौतम स्वामी पूछते हैं—ऐसा जीव यहाँ से मरकर

देवता होता है ? 'यहाँ से मरकर' का अर्थ होगा—जहाँ यह प्ररूपणा की जा रही है, वहाँ से चलकर । यह प्ररूपणा मध्यलोक में की जा रही है और मध्यलोक में प्रायः मनुष्य-तिर्य्यच होते हैं । इसलिए 'यहाँ से' का अर्थ मनुष्यगति से और तिर्य्यचगति से, समझना चाहिए । तात्पर्य यह कि ऐसा जीव मनुष्यगति और तिर्य्यचगति से च्युत हो कर क्या देवता होता है ?

गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान् कहते हैं—
गौतम ! ऐसे जीव कोई कोई देवता होते हैं और कोई-कोई देवता नहीं होते ।

यहाँ तृष्णा-विजय की बात कही है । साधु अथवा श्रावक होकर संयम और व्रत जैसी कल्याणकारी वस्तु के बदले में तुच्छ वस्तु की अभिलाषा करना उचित नहीं है । देवयोनि मिलना बड़ी बात नहीं है । वह तो मिथ्यादृष्टि को भी मिल जाती है । अतएव इस प्रश्नोत्तर द्वारा यह भी सूचित किया गया है कि स्वर्ग की कामना मत करो । स्वर्ग तो मिथ्यादृष्टि और पशु भी पा सकते हैं । इस कथन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि जब देवलोक का ऐश्वर्य भी तुच्छ है तो मनुष्यलोक का वैभव कब उत्कृष्ट होगा ?

गौतम स्वामी फिर प्रश्न करते हैं—जिनका मिथ्यात्व नहीं छूटा है, उन असंयतियों में से कोई देवता होता है और कोई नहीं, इसका क्या कारण है ?

इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् कहते हैं । इस उत्तर में अनेक स्थानों के नाम आये हैं । उनका अर्थ यह है—

ग्रामः—जहाँ थोड़ी बुद्धि वाला और बहुत बुद्धि वाला-दोनों प्रकार के मनुष्य रह सकते हों, वह ग्राम कहलाता है। एक जगह एक टीका में लिखा है कि जहाँ बसने से बुद्धि नष्ट होजाय, वह ग्राम है। मगर ग्राम का यह अर्थ उपयुक्त नहीं जँचता, क्योंकि अधिकतर मस्तिष्कशक्ति की उत्पत्ति ग्रामों में ही होती है। असली तत्त्व ग्रामों में ही हैं। नागरिक लोग, ग्रामों में उत्पन्न पदार्थ ही खाते हैं। ग्राम तौर पर यह खयाल किया जाता है कि नगर के लोग चतुर होते हैं। लेकिन कच्चा लोहा खान से निकलता है और शाण पर चढ़ने से वह तीक्ष्ण हो जाता है, तो इसका अर्थ यह नहीं है कि वह शाण पर चढ़ा लोहा वहीं बना है। इसी प्रकार नगर में बुद्धि का संघर्ष होता है, इस कारण नगर-निवासियों की बुद्धि में तीक्ष्णता आ जाती है, मगर बुद्धि की उत्पत्ति ग्रामों में ही होती है।

आकर—खदान को 'आकर' कहते हैं। जहाँ लोहा आदि धातुएँ निकलती हैं, वह भूभाग आकर कहलाता है।

नगर—न कर अर्थात् जहाँ कर (टेक्स) न लगे, वह स्थान नगर है। आज नगरों पर खूब कर लग गया है और नवीन-नवीन कर लगते जाते हैं, मगर प्राचीन काल में नगरों पर कर नहीं थे। इसलिए नगरों में खूब क्रय-विक्रय होता था और नागरिक लोग ग्रामीणों की भी सार-सँभाल कर सकते थे। आज के नागरिकों पर इतना बोझ लदा है कि उन्हें अपनी ही सुध-बुध नहीं है। वे ग्राम्य जनता की क्या सुध ले सकेंगे !

निगम—जहाँ व्यापारी अधिक निवास करते हों, शस

वस्ती का नाम निगम है। अर्थात् जहाँ माल का आना-जाना बना रहता हो और व्यापार खूब होता हो, वह निगम कहलाता है।

राजधानी—जहाँ स्वयं राजा स्थायी रूप से रहता हो, वह राजधानी है।

खेट—जिस छोटी वस्ती के चारों ओर घूल का कोट हो उसे खेट या खेड़ा कहते हैं।

कर्वट—कुत्सित नगर कर्वट कहलाता है। जिसकी गणना न ग्राम में की जा सके, न नगर में ही, वह कर्वट है। जैसे आजकल के कस्बे।

मडम्ब—जिस वस्ती के समीप दूसरी वस्ती न हो, जिससे दूसरी वस्तियाँ दूर हों, वह मडम्ब है। दूर का अर्थ यहाँ ढाई कोस लिया गया है।

द्रोणमुख—जहाँ के लिये जलमार्ग भी हो और स्थलमार्ग भी हो, वह वस्ती द्रोणमुख कहलाती है।

पट्टन—पाटन। जहाँ देश देशान्तर से आया हुआ माल उतरता है, उसे पट्टन कहते हैं। पट्टन दो प्रकार के होते हैं—जलपट्टन और स्थल-पट्टन। जो जल के बीच में या किनारे पर वसा हो वह जलपट्टन और जो स्थल में हो—जहाँ स्थलमार्ग से आया माल उतरता हो, वह स्थल पट्टन है। जहाँ सब प्रकार के हाथी, घोड़े, रत्न आदि बहुमूल्य पदार्थ विकते हों, उसे भी पट्टन कहते हैं।

आश्रम—जिस स्थान पर कंदमूल, फल, फूल खाने वाले तपस रहते हों, वह आश्रम कहलाता है ।

सन्निवेश—जहाँ दूध, दही, बेचने वाले लोग रहते हों, वह सन्निवेश कहलाता है । उसे घोष भी कहते हैं ।

भगवान् कहते हैं कि इन स्थानों में से किसी भी स्थान में रहता हो, मगर जो अकाम निर्जरा करता है, वह देव होता है ।

अकाम निर्जरा का साधारण अर्थ है—बिना इच्छा के निर्जर करना—अर्थात् भूखों, प्यासों मरना । लेकिन यहाँ यह अर्थ संगत नहीं है । मोक्ष प्राप्ति के योग्य निर्जरा की अभिलाषा नहीं होना अकाम निर्जरा है । और मोक्ष प्राप्ति की कामना से जो निर्जरा की जाती है, वह सकाम निर्जरा कहलाती है । मुझे स्वर्ग प्राप्त हो जाय, या मेरा अमुक लौकिक कार्य सिद्ध हो जाय, इस भावना से भूखा रहना, प्यासा रहना, कष्ट भोगना, यह सब सकाम निर्जरा नहीं है । अभिलाषा किये बिना भी फल की प्राप्ति होती है, अतएव अभिलाषा करने की आवश्यकता नहीं है । यही नहीं, वरन् अभिलाषा न करने से हजारगुना अधिक फल होता है । अतएव चाह करना, फल में न्यूनता उत्पन्न कर लेना है ।

हे गौतम ! असंयमी, अविरत और मिथ्यादृष्टि कहीं भी रहता हो, अगर वह अकाम निर्जरा करता है; अन्न के अभाव में नहीं वरन् अन्न होते हुए भूखा रहता है, वह देव-योनि प्राप्त करता है ।

अज्ञानपूर्वक की जाने वाली निर्जरा अकामनिर्जरा है और ज्ञानपूर्वक की जाने वाली सकामनिर्जरा है ।

जिसे सम्यग्ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ, वह पूर्वोक्त स्थानों में से किसी में भी रहता हुआ मिथ्यादृष्टि पुरुष निर्जरा आदि की अभिलाषा से रहित अकाम तृषा सहन कर रहा है। वह भूखा रहता है, मगर अकाम अर्थात् धर्म भावना से नहीं। स्त्रीसमागम नहीं करता है, मगर यों ही बिना किसी प्रयोजन के। ब्रह्मचर्य पालने का उसका अभिप्राय कुछ नहीं है। वह धर्म समझकर ब्रह्मचर्य का पालन नहीं करता, मगर स्त्री होते हुए भी लज्जा आदि के कारण समागम नहीं करता और ब्रह्मचर्य रखता है। यह अकाम ब्रह्मचर्य है। वह रात्रि में ऐसे स्थान पर रहता है जहाँ स्त्री से भेंट न हो, वह अकाम ब्रह्मचर्यवास कहलाता है।

इस अकाम ब्रह्मचर्य के लिए या यों ही स्नान नहीं करता है, स्वेद (पसीना) जल, मल आदि सहन करता है। यह सब अकामनिर्जरा है।

स्वेद का अर्थ है—पसीना। पसीने पर जो रज लग जाती है वह जल कहलाती है। जल का जम जाना मल है। इन सब कष्टों को सहन करना—मगर धर्मभाव से निर्जरा के लिए नहीं—वह अकामनिर्जरा है। इस प्रकार थोड़े काल तक या बहुत काल तक वह आत्मा को क्लेश पहुँचाता है, फिर भी उसके इन कार्यों से मोक्ष प्राप्त नहीं होता। इस अकाम-निर्जरा के कारण वह वान-व्यन्तर आदि देव के भव में जाकर जन्म लेगा।

यहाँ एक मिथ्यादृष्टि के विषय में ही प्रश्नोत्तर है। उवदाई सूत्र में विस्तारपूर्वक वर्णन है। यहाँ सामान्य रूप से, निर्जरा की इच्छा न रखने वाले और दुःख पड़ने पर अच्छे

परिणाम रखने वाले का ही वर्णन किया है, लेकिन आगे कहा जायगा कि अकाम निर्जरा नौवें त्रैवेयक विमान तक होती है। कई ज्ञानी सकाम निर्जरा वाले भी देवलोक में जाते हैं और कई मिथ्यात्वी अकामनिर्जरा वाले भी देवलोक में जाते हैं। इन दोनों के देवलोक में जाने में क्या अन्तर है, यह बताने के लिए कहा है कि अकाम निर्जरा वाले वान-व्यन्तर देव भी होते हैं और सकाम निर्जरा वाले परलोक की उत्तम से उत्तम स्थिति प्राप्त करके मोक्ष की भी आराधना कर सकते हैं।



❧ वाक्-हस्तरो का (स्थान) ❧



मूलपाठ—

प्रश्न—केरिसा एं भंते ! तेसिं वाणमं-
तराणं देवाणं देवलोया पणत्ता ?

उत्तर—गोयमा ! से जहांनामए इह
मणुस्सलोगम्मि असोगवणे इ वा, सत्तवरणवणे
इ वा, चंपयवणे इ वा, चूयवणे इ वा, तिलग-
वणे इ वा, लाउवणे इ वा, निग्गोहवण इ वा,
छत्तोहवणे इ वा, असणवणे इ वा, सणवणे
इ वा, अयसिवणे इ वा, कुसुंमवणे इ वा,
सिद्धत्थवणे इ वा, बंधुजीवगवणे इ वा, णिच्चं
कुसुमिय, माइय, लवइय, थवइय, गुलुइय,
गोच्छिय, जमलिय, जुवलिय, विणमिय, पणमिय,

सुविभत्तपिण्डिमंजरिवडेंसगधरे सिरीए अतीव
 अतीव २ उवसोभमाणे चिट्ठइ, एवामेव तेसिं वाण-
 मंतराणं देवाणं देवलोगा जहरणेणं दसवास-
 सहस्सट्ठितीएहिं, उक्कोसेणं पलिओवमट्ठितीएहिं,
 बहूहिं वाणमंतरेहिं देवेहिं, तद्देवीहि य आइएणा,
 विकिण्णा, उवत्थडा, संथडा, फुडा, अवगाढ-
 गाढा, सिरीए अतीव अतीव उवसोभेमाणा
 उवसोभेमाणा चिट्ठति । एरिसगा णं गोयमा !
 तेसिं च वाणमंतराणं देवाणं देवलोआ पन्नत्ता,
 से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइजीवे णं असंजए
 जाव-देवे सिया ।

संस्कृत-छाया-प्रश्न-क्रीडा भगवन् ! तेषां वानव्यन्तराणां
 देवानां देवलोकाः प्रज्ञप्ताः ?

उत्तर—गैतम ! तद् यथा नामेत् मनुष्यलोके अशोकवनं वा,
 सप्तपर्णवनं वा, चम्पकवनं वा, चूतवनं वा, तिलकवनं वा, अलाबु-
 वनं वा, न्यग्रोधवनं वा, छत्रौघवनं वा, असनवनं वा, शणुवनं वा,
 अतसिवनं वा, कुसुम्भवनं वा, सिद्धार्थवनं वा, बन्धुजीवकवनं वा,
 निलयं कुसुमितं, मयूरितं, लवकितम्, स्तवकितम्, गुल्मकितम्,

गुच्छितम्, यमलितम्, युगलितम्, विनमितम्, प्रणमितम्, सुविभक्त-
पिण्डी—मञ्जर्यवतंसकधरं श्रिया अतीवातीवोपशोभमानम्—उपशोभमानं
तिष्ठति, एवमेव तेषां वानव्यन्तराणां देवानां देवल्लोका जघन्येन
दशवर्षसहस्रस्थितिकैः, उत्कृष्टेन पत्योपमस्थितिकैर्वहुभिर्वानव्यन्तैर्देवैः
तद्देवीभिश्च आकीर्णाः, विकीर्णाः, उपस्तीर्णाः संस्तार्णाः, स्कूटाः,
अवगाढगाढाः, श्रिया अतीवातीवोपशोभमाना उपशोभमानास्तिष्ठन्ति ।
ईदृशा गौतम ! तेषां च वानव्यन्तरदेवानां देवल्लोकाः प्रज्ञप्ताः, तत्
तेनार्थेन गौतम ! एवमुच्यते-जीवोऽस्यतो यावद्-देवः स्यात् ।

सूत्रार्थ-प्रश्न—हे भगवन् ! उन वान-व्यन्तर देवों
के देवलोक किस प्रकार के कहे गये हैं ?

उत्तर—हे गौतम ! जैसे यहां मनुष्यलोक में सदा
फूला हुआ, मंयूरित-पुष्प-विशेष वाला—मौर वाला, लवकित—
कौपलों वाला, फूलों के गुच्छों वाला, लता-समूह वाला,
पत्तों के गुच्छों वाला, यमल-समान श्रेणी के वृक्षों वाला,
युगल वृक्षों वाला, फल-फूल के भार से नमा हुआ, फल-
फूल के भार से नमने की शुरुआत वाला, विभिन्न प्रकार
की बालों और मंजरियों रूपी मुकुटों को धारण करने वाला,
अशोकवन, सप्तपर्णवन, चम्पाका वन, आमोंका वन,
तिलक वृक्षों का वन, तूँवे की लताओं का वन, बड़ वृक्षों
का वन, छत्रौध वन, अशन वृक्षों का वन, सन का वन,
अलसी के पौधों का वन, कुसुंब वृक्षों का वन, सफेद सरसों

का वन. तथा दुपहरिया वृक्षों का वन, अतीव अतीव शोभा से सुशोभित होता है. इसी प्रकार वाण-व्यन्तर देवों के देवलोक जघन्य दम हजार वर्ष की स्थिति वाले और उत्कृष्ट यन्त्रोपम की स्थिति वाले, बहुत से वाण-व्यन्तर देवों और देवियों से व्याप्त, विशेष व्याप्त, उपस्तीर्ण—एक दूसरे के ऊपर आच्छादित, परस्पर मिले हुए भोगे हुए या प्रकाश वाले, अत्यन्त अवगाढ़, शोभा से अतीव अतीव सुशोभित रहते हैं। हे गौतम ! वाण-व्यन्तर देवों के स्थान-देवलोक इस प्रकार के कहे गये हैं। इस कारण हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि असंयत जीव यावत्-देव होता है।

व्याख्यान—अब गौतम स्वामी वाण-व्यन्तर देवों के देवलोक के विषय में प्रश्न करते हैं। व्यन्तरों का देवलोक कैसा है ? वहाँ क्या कोई सुख है ?

इस प्रश्न के उत्तर से पहले यह जान लेना आवश्यक है कि वाण-व्यन्तर देव किन्हें कहते हैं ? इस सम्बन्ध में कहा गया है कि वन-विशेष में उत्पन्न होने वाले अर्थात् बसने वाले देव वाण-व्यन्तर कहलाते हैं।

दूसरे आचार्य के मत से वन में उत्पन्न होने वाले देव कहलाते हैं और वन में फ्रीड़ा करने वाले व्यन्तर देव कहलाते हैं। वन में यद्यपि फूल-फल भी उत्पन्न होते हैं, मगर यहाँ उनका ग्रहण नहीं करना चाहिए। यहाँ देवयोगि के धन जीवों को ही लेना चाहिए जो वन में उत्पन्न होकर, वन में फ्रीड़ा करते हैं ?

वाण व्यन्तरों के स्थान का वर्णन करने के लिए भगवान् ने मनुष्यलोक के वृक्षों के वनों का उदाहरण दिया है। यह आशंका की जा सकती है कि मनुष्यलोक में महल आदि उत्तम स्थान बहुत से हैं, उनकी उपमा न देकर सिर्फ वनों की उपमा क्यों दी है? वास्तव में वन की उपमा देने में प्रकृति सम्बन्धी बहुत विचार गर्भित हैं।

आजकल लोग प्रकृति से बहुत दूर हट गये हैं, इस लिए उन्हें कृत्रिम वस्तु बहुत प्रिय लगती है। लेकिन जिसने प्रकृति का अभ्यास किया है, जिसने प्रकृति के सौन्दर्य की अनुभूति की है, वही प्राकृतिक और कृत्रिम वस्तुओं का भलीभाँति अन्तर समझ सकता है। एक आदमी घाम से व्याकुल और थका हुआ है। उसे एक ओर कलकल करता हुआ निर्भर और उसी के किनारे एक सुन्दर सघन छायादार वृक्ष मिलता है और दूसरी ओर राजमहल वह किसे पसंद करेगा ?

‘वृक्ष की छाया को !’

महल के लोभी को चाहे महल प्रिय लगे, लेकिन थके हुए निलोभ पथिक को तो वृक्ष की छाया ही अधिक प्रिय लगेगी। थके हुए को वृक्ष की गोद में जो आनन्द प्राप्त होगा, वह महल की कैद में नहीं हो सकता।

वृक्ष की छाया में आनन्द प्राप्त होने का एक कारण और भी है। मनुष्य कार्बनिक वायु छोड़ता है और वृक्ष इसे ग्रहण करके उसके बदले आक्सीजन वायु छोड़ता है। वृक्ष के लिये कार्बनिक वायु पथ्य है और मनुष्य के लिए

आक्सीजन वायु पथ्य है। मनुष्य आक्सीजन वायु के बिना जीवित नहीं रह सकता। यह वायु महल से नहीं, वृक्ष से मिलती है। महल, मनुष्य के जीवन को प्रकृति विरोधी बनाता है। इस प्रकार वृक्ष की छाया में जो आनन्द है, वह बेचारे महल में कहाँ।

महलों के कारण लोग प्रकृति से इतने दूर जा पड़े हैं कि महल की दीवार पर बने हुए वन के दृश्य तो प्रसन्नता पूर्वक देखते हैं, लेकिन वन को साक्षात् देखना नहीं चाहते। मगर चाहे आप वन को साक्षात् न देखना चाहें तथापि बिना वन के चैन नहीं है। इसी कारण वन के चित्र देखने पड़ते हैं। आप प्रकृति से दूर भागना चाहते हैं मगर प्रकृति आपको अपनी ओर खींच रही है। इसलिए आप नैसर्गिक वन के बदले कृत्रिम वन के चित्र की ओर आकृष्ट होते हैं।

मनुष्य—जीवन के लिए जो वस्तुएँ अत्यन्त उपयोगी हैं, वह महल से नहीं निकलती हैं। बल्कि महल ऐसी वस्तुओं का विनाश करता है। ऐसी वास्तविक वस्तु वन में ही उपजती है। इसलिए वाण-व्यन्तर देवों के स्थान की उपमा चक्रवर्ती के महल से न देकर वन से दी गई है।

भगवान् कहते हैं—गौतम ! वाण-व्यन्तर देवों का स्थान वैसा ही सुशोभित होता है, जैसा मनुष्यलोक में अशोक वृक्ष का वन शोभा देता है।

भगवान् ने इस उपमा द्वारा यह सूचित किया है कि प्राकृतिक वस्तु जैसी शोभा देती है, कृत्रिम वस्तु वैसी शोभा नहीं दे सकती।

अशोक वृक्ष को लोकभाषा में आसापाला कहते हैं। अशोक वृक्ष की शोभा देखने से मन की चिन्ता और शोक भूल जाता है। अशोक वृक्ष की उपमा देकर भगवान् ने और भी अनेक उपमाएँ दी हैं। जैसे-सप्तपर्ण (सादड़) के वृक्षों का वन, चम्पा का वन, आम्रवन, तिलक वृक्षों का वन, तूँवे की पेलों का वन, बड़ वृक्षों का वन, छत्रौघ का वन, कुसुंभ वन, सरसों का वन, अश्विन वृक्षों का वन, सन का वन, अलसी का वन, बंधुजीव का वन, यह सब शोभा देते हैं उसी प्रकार वाण-व्यन्तर देवों का देवलोक शोभा देता है। जैसे इन वनों में फल आते हैं, मौस्र आते हैं, कौपलें आती हैं, फूलों के गुच्छे लगते हैं, यह लता समूह से व्याप्त होते हैं, इन वृक्षों के वन कतार में खड़े होते हैं, फूलों, फलों और लताओं के भार से झुके होते हैं, उस समय की शोभा अवर्णनीय होती है। ऐसे वन जिस प्रकार सुशोभित होते हैं, उसी प्रकार वाण-व्यन्तरों के देवलोक सुशोभित होते हैं।

भगवान् ने वन की शोभा देवलोक से इसी लिए दी है कि वन का सौन्दर्य कृत्रिम नहीं है, प्राकृतिक है। कभी-कभी कृत्रिम वस्तु में सुन्दरता दिखलाई पड़ती है, वह सुन्दरता वास्तव में उस अकृत्रिम वस्तु की ही समझना चाहिए, जिसकी नकल कृत्रिम में उतारी गई है। लेकिन वह सुन्दरता सिर्फ देखने भर को होती है, वह कोई लाभ नहीं पहुँचा सकती। लाभ तो साक्षात् वनश्री ही पहुँचाती है। यदि संसार में वनस्पाति न हो तो मनुष्यों का जीवन कठिन हो जाता। कई लोग अपने भ्रम के कारण समझते हैं कि हमें जंगल भला नहीं लगता और महल सुहावना लगता है। अगर यह सच हो तो महल में रहने वाला क्यों जंगल की

शरण लेता है ? शहर में जब प्लेग का प्रकोप होता है, तब लोग कहाँ जाते हैं ?

‘जंगलों को ।’

उस समय घर में रहने के लिए आपको कुछ रकम दी जाय तो आप घर में रहना पसंद करेंगे ?

‘नहीं !’

और अगर जंगल में रहने की फीस लीजाय, तो आप देंगे या नहीं ?

‘अवश्य देंगे ।’

आप लोग वनावटी के चक्र में पड़कर अकृत्रिम को भूल रहे हैं, लेकिन प्राकृतिक रचना ही वास्तव में सब प्रकार से सुन्दर और लाभदायक है ।

वाह्य सुख की अपेक्षा से व्यन्तर देव सुखी हैं, क्योंकि उन्हें रोग-शोक नहीं होता । मनुष्य लोक के जीव इसलिए सुखी नहीं हैं कि मनुष्य प्रकृति के विरोधी हैं । प्रकृति से विरोध करने वाले को सुख कहाँ ! सुख देने वाली प्रकृति है, मगर वह तभी सुख देती है, जब उसका विरोध न किया जाय ।

भगवान् ने जिस समय वाण-व्यन्तर के देवलोक से इन वनों की उपमा दी, उस समय भारत में खूब वन थे । और उन वनों में मनुष्य उसी प्रकार विचरते थे, जैसे वाण-व्यन्तर अपने देवलोक में विचरते हैं । लेकिन धीरे-धीरे भारतीयजन कृत्रिमता के मोह में फँस गये । परिणाम यह

हुआ कि वे वन उजड़ गये। आज वह घर बड़ा माना जाता है, जिसके यहाँ कोयले जलते हैं। लकड़ी जलने से घर काला हो जाता है, कोयला जलने से काला नहीं होता। कोयलों के लिए हरे-हरे वृक्ष काट लिये जाते हैं, क्योंकि कोयले अधसूखी लकड़ी के बनते हैं। मनुष्य स्वास्थ्यदायक वृक्षों को कटवा डालता है और हवा को रोकने तथा दूषित करने वाले महल खड़ा करता है।

कृत्रिमता स्वयं एक प्रकार का विकार है। अतएव मनुष्य कृत्रिमता के साथ जितना अधिक सम्पर्क स्थापित करेगा, उतने ही अधिक विकार उसमें उत्पन्न होते जाएँगे। इसके विपरीत मनुष्य-जीवन में जितनी अकृत्रिमता होगी, उतना ही वह अधिक आनन्दमय होगा। पहले मुनि-महात्मा वन में ही ठहरते थे। ग्राम और नगर में सिर्फ भिक्षा के लिए जाते थे, रहते वन में ही थे। वन में उन्हें अद्भुत शान्ति मिलती थी। इसी कारण उनके मस्तिष्क में अपूर्व, उत्तम और हितकर विचार प्रादुर्भूत होते थे।

प्रश्न हो सकता है कि भगवान् वीतराग थे और गौतम स्वामी भी केवलध्यानी के समान थे, उन्होंने वन की सुन्दरता क्यों कही-सुनी? उन्होंने संसार की बातें क्यों कहीं? गौतम स्वामी ने ऐसा प्रश्न क्यों किया? और भगवान् ने इस प्रकार की उपमाओं से भरा हुआ उत्तर क्यों दिया?

भगवान् ने मोह उत्पन्न करने के लिए यह उत्तर नहीं दिया है। उन्होंने अनन्त करुणा से प्रेरित होकर यह बताया है कि-मनुष्यो! वनावटी चीज़ के भे.गोपभोग में अलभ कर प्राकृतिक पदार्थों को मत भूलो! प्रकृति के समान सुखदायक

और कोई वस्तु नहीं है। साथ ही वन के समान जीवन को आनन्दमय बनाने वाला और कोई नहीं है।

हवा प्रायः शहर की ही गंदी होती है। ग्राम की हवा को भी नगर वाले ही दूषित बनाते हैं। नगर को अपेक्षा ग्राम कम गंदे होते हैं। आज तो ग्रामीणों ने भी अपना जीवन-क्रम बदल-सा दिया है और ग्रामों में भी गंदगी का प्रवेश हो गया है। मगर कभी आपने यह सुना है कि अमुक वन की हवा बिगड़ी है और नगर की हवा नहीं बिगड़ी है? अगर कभी किसी वन की वायु में किसी प्रकार का विकार हुआ भी हो तो वह नगर की ही देन होगी।

एक भाई प्रश्न करते हैं कि भगवान् का समवसरण कृत्रिम है या अकृत्रिम? इसका उत्तर यह है कि उववाइसूत्र में समवसरण का विस्तृत वर्णन है। समवसरण में देव कृत्रिमता प्रकट करते हैं, अन्यथा समवसरण अकृत्रिम ही है। ग्रंथों में कहा गया है कि देवकृत तीर्थंकरों का समवसरण भी दो ही बार होता है—एक बार केवलज्ञान उत्पन्न होने के समय और दूसरी बार निर्वाण के समय। जैसी कृत्रिमता इन समयों पर देव प्रकट करते हैं, उस कृत्रिमता के बिना समवसरण जुड़ता ही न हो, सो बात नहीं है। यह आवश्यक नहीं कि जब तांबे के कोट आदि हों तभी समवसरण होता हो। उववाइसूत्र में वर्णन है कि भगवान् अमुक उद्यान में विराजमान हुए और धर्म कथा कही। समवसरण का सामान्य अर्थ है, उस विशद परिपद का जुड़ना, जिसमें धर्म का उपदेश तीर्थंकर ने किया हो।

भगवान् सदैव अकृत्रिम अवस्था में ही रहते थे।

चौबीसों तीर्थकरों को वृक्ष के नीचे ही केवलज्ञान हुआ था । किसी तीर्थकर को वट वृक्ष के नीचे केवलज्ञान हुआ, किसी को खिरनी के नीचे और किसी को शात्मली वृक्ष के नीचे । किसी भी तीर्थकर को किसी महल में विराजमान होने पर केवलज्ञान हुआ, ऐसा कहीं देखने में नहीं आता ।

इस कथन का आशय यह नहीं है कि वृक्ष के नीचे ही केवलज्ञान हो सकता है और अन्यत्र नहीं हो सकता । यह कथन उन मर्यादा पुरुष तीर्थकर भगवान् के लिए है । उन्हें वृक्ष के सिवा दूसरी जगह केवलज्ञान नहीं होता ।

वाण-व्यन्तर देवों के देवलोक में वह मिथ्यादृष्टि कम से कम दस हजार वर्ष की स्थिति भोगता है और अधिक से अधिक एक पल्योपम की ।

वाण-व्यन्तरों का वह स्थान देवों और देवियों से व्याप्त होता है । उस देवलोक में बहुत-से देव देवी शोभायमान होते हुए रहते हैं ।

पहले यह बतलाया गया है कि अकाम निर्जरा करने वाला, अकाम जुधा, तृषा, ब्रह्मचर्य आदि का पालन करता है । इस प्रकार एक ओर रूखा जीवन व्यतीत करने का चित्र है और दूसरी ओर वाण-व्यन्तरों के देवलोक का चित्र है । तात्पर्य यह है कि अकाम जुधा, तृषा आदि सहन करने का यह परिणाम निकला है । यद्यपि मिथ्यादृष्टि ने जो कष्ट सहे हैं, वह अज्ञानपूर्वक सहे हैं, ज्ञानपूर्वक नहीं, तथापि भूख-प्यास को सहन करने से उसे देवलोक की प्राप्ति हुई है ।

आप प्रकाश देते हुए विजली के लट्ठ को देखते हैं ।

जो विजली प्रकाश देती है, उसकी उत्पन्न होती हुई गैस दुर्गन्ध देती है, ऐसा सुना जाता है। लेकिन वही गैस प्रकाश देती है। अगर उस दुर्गन्ध से घृणा की जाय तो विजली का प्रकाश नहीं हो सकता। आप कदाचित् घृणा करें भी, मगर जो आदमी उस गैस को उत्पन्न करता है वह यदि घृणा करने लगे तो किसी को प्रकाश न मिले। मतलब यह है कि उस दुर्गन्धयुक्त गैस से विजली का उज्ज्वल प्रकाश निकलता है। इसी प्रकार भूख प्यास सहने वाले और अकाम निर्जरा करने वाले के लिए, लोग कहते हैं, यह वृथा कायकलेश कर रहा है, मगर शानी पुरुष जानते हैं कि यह कष्ट नहीं, गैस है जिस से वाण व्यन्तर का विद्युत्प्रकाश उत्पन्न होगा।

विजली पर पतंग मँडराते हैं और अपनी जान दे देते हैं। यही बात आप के लिए भी है, आप विजली को देखते हैं, पर यह नहीं देखते कि यह प्रकाश किसके अधीन है? आप देवलोक के सुख को तो देखते हैं, परन्तु यह नहीं देखते कि यह सुख निकला कहां से है? देवलोक के सुख के उद्गम को न देखकर, केवल सुख को ही देखना विजली पर पड़ने के समान है।

जैसे जेल से डरने वाला स्वराज्य प्राप्त नहीं कर सकता और जैसे आँच और धुँएँ से डरने वाली महिला रसोई नहीं बना सकती, उसी प्रकार कष्टों से घबराने वाला देवलोक के सुख नहीं पा सकता। यह ठीक है कि अज्ञानपूर्वक सहन किया गया कष्ट मोक्ष का कारण नहीं है, मगर वह भी सर्वथा निष्फल नहीं होता। उस कष्ट का फल यह देवलोक है। मगर यह ध्यान रखना चाहिए कि केवल कष्ट सहने मात्र

से स्वर्ग नहीं मिलता है । केवल कष्टसहन से ही स्वर्ग मिलता तो नरक में घोर कष्ट सहने वाले नारकी और वूचड़-खाने में मारे जाने वाले पशु भी स्वर्ग ही पाते । स्वर्ग वास्तव में पुण्य से मिलता है और पुण्य शुभभाव से होता है । इस प्रकार गौतम स्वामी के प्रश्न का उत्तर समाप्त हुआ ।



उपसंहार

—••••—

मूलपाठ—

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति भगवं गोयमे
समणं भगवं महावीरं वंदति, नमंसति, वंदित्ता,
नमंसित्ता, संजमेणं, तवसा अण्णाणं भावेमाणे
विहरइ ।

संस्कृत-छाया—तदेवं भगवन् ! तदेवं भगवन् ! इति
भगवान् गौतमः श्रमणं भगवन्तं महावीरं वन्दते, नमस्यति, वन्दित्वा
नमस्यित्वा संयमेन तपसाऽऽत्मानं भावयन् विहरति ।

मूलार्थ—हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, यह इसी
प्रकार है, ऐसा कह कर भगवान् गौतम, श्रमण भगवान्
महावीर को वन्दना करते हैं, नमस्कार करते हैं, वन्दना—
नमस्कार करके संयम तथा तप से आत्मा को भावित करते
हुए विचरते हैं ।

व्याख्यान-भगवान् के वचन सुनकर गौतम स्वामी ने कहा-प्रभो ! जैसा आप कहते हैं, वैसा ही है । आप अनन्त हैं और मैं तुच्छ हूँ, इसलिए मैं आपके वचनों पर विश्वास करता हूँ ।

ऐसा कह कर गौतम स्वामी ने श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को वन्दना की, नमस्कार किया और तप तथा संयम में विचरने लगे ।

यहाँ वन्दना-नमस्कार करने का उल्लेख इसलिए किया गया है कि प्रश्न पूछने से पहले और उत्तर सुनने के पश्चात् वन्दना करना विनय प्रदर्शित करना है । विना विनय के ज्ञान प्राप्त नहीं होता । अतः ज्ञान प्राप्त करने में विनय की अत्यन्त आवश्यकता है ।

यह भगवतीसूत्र के प्रथम शतक का प्रथम बहेशक समाप्त होता है । मेरी समझ में जैसा आया, वैसा मैंने वर्णन किया । इस वर्णन में जो चारों शास्त्र के अनुकूल हों, उन्हें ग्रहण कीजिए और जो प्रतिकूल कही गई हों उन्हें त्याग दीजिए ।

सेवं भंते सेवं भंते, गौतम बोले सह ।

श्री वीरजी का वचन में सन्देह नई ॥

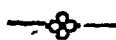




प्रथम शतकः-द्वितीय उद्देशक



प्रश्नोत्थान



मूलपाठ

रायगिहे नगरे समोसरणं । परिषा णि-
ग्गया, जाव-एवं वयासी—

संस्कृत-छाया—राजगृहे नगरे समवसरणं । परिषद् निर्गता,
यावत्-एवमवादीत् ।

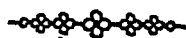
मूलार्थ—राजगृह नगर में समवसरण हुआ । परिषद्
निकली । यावत्-इस प्रकार फरमाया ।

व्याख्यान—अब भगवतीसूत्र के प्रथम शतक का
दूसरा उद्देशक आरम्भ होता है । पहले उद्देशक के साथ दूसरे
का सम्बन्ध बतलाते हुए कहा गया है कि पहले उद्देशक में

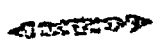
चलन आदि धर्मों वाले कर्म का निरूपण किया गया है। दूसरे में, पहले उद्देशक के वच्चे हुए अंश का ही वर्णन किया जायगा उद्देशकों के नाम की जो संग्रह गाथा शतक के प्रारम्भ में कही गई है, उसमें यह बतलाया है कि द्वितीय उद्देशक में दुःख सम्बन्धी प्रश्न हैं। दुःख के इस कथन की प्रस्तावना के लिए यहाँ दुःख का ही पहले-पहले वर्णन किया जाता है।

दूसरे उद्देशक के आरम्भ में राजगृह नगर और गुणशील नामक उद्यान आदि का वर्णन प्रथम उद्देशक के समान ही समझ लेना चाहिए। गौतम स्वामी भगवान् को वन्दना करके प्रश्न पूछते हैं, यहाँ तक का समस्त पाठ पहले उद्देशक के समान ही यहाँ उच्चारण करना चाहिए।

इस प्रकार का उपोद्घात प्रत्येक उद्देशक के आरम्भ में किया जाता है। इसका कारण यह है कि जहाँ वचन होंगे वहाँ वक्ता भी अवश्य होगा। और जब वक्ता है तो वह किसी स्थान पर स्थित होकर ही भाषण करेगा। अतएव इस उपोद्घात में स्थान का, समय का और वक्ता का सामान्य परिचय दे दिया जाता है। मीमांसक मत वाले वेद को अपौरुषेय मानते हैं। मगर जैनसिद्धान्त, शास्त्र की अपौरुषेयता स्वीकार नहीं करता। कोई भी शास्त्र अपौरुषेय नहीं हो सकता। यह प्रकट करने के लिए भी प्रत्येक उद्देशक के आरम्भ में वक्ता, स्थान और समय का उल्लेख कर दिया गया है।



दुःखो का वेदः



मूलपाठः—

प्रश्न—जीवे एं भंते ! सयंकडं दुखं वेएइ ?

उत्तर—गोयमा । अत्थेगइयं वेएइ, अत्थे-
गइयं नो वेएइ ।

प्रश्न—से केण्हेणं भंते ! एवं वुच्चइ—‘अत्थे-
गइयं वेएइ, अत्थेगइयं नो वेएइ ?’

उत्तर—गोयमा ! उदिरणं वेएइ, अणुदि-
रणं नो वेएइ । से तेण्हेणं एवं वुच्चइ—‘अत्थे-
गइयं वेएइ अत्थेगइयं नो वेएइ ।’ एवं चउ-
वीसदंडणं, जाव वेमाणिए ।

प्रश्न—जीवा णं भंते ! सयंकडं दुक्खं
वेदेति ?

उत्तर-गोयमा ! अत्थेगइयं वेदेति, अत्थे-
गइयं नो वेदेति ।

प्रश्न-से केणट्टेणं ?

उत्तर-गोयमा ! उदिरणं वेदेति, नो अणु-
दिरणं वेदेति । से तेणट्टेणं, एवं जाव-वेमाणिया ।

प्रश्न-जीवे णं भंते ! सयंकडं आउयं वेएइ ?

उत्तर-गोयमा ! अत्थेगइयं वेएइ, अत्थे-
गइयं नो वेएइ । जहा दुक्खेणं दो दंडगा तहा
आउएणं वि दो दंडगा-एगत्तपुहत्तिया, एगत्तेणं
जाव-पुहत्तेण वि तहेवे ।

संस्कृत-छाया-प्रश्न—जीवो भगवन् ! स्वयंकृतं दुःखं
वेदयति ?

उत्तर—गौतम ! अस्त्येककं वेदयति, अस्त्येककं नो वेदयति ।

प्रश्न—तत् केनार्थेन भगवन् ! एवमुच्यते-अस्त्येककं वेदयति,
अस्त्येककं नो वेदयति ।

उत्तर—गौतम ! उदीर्णं वेदयति, अनुदीर्णं नो वेदयति ।

तत् तेनार्थेन एवमुच्यते—अस्त्येककं वेदहति, अस्त्येककं नो वेदयति ।
एवं चतुर्विंशति-दण्डकेन, यावद्-वैमानिकाः ।

प्रश्न—जीवा भगवन् ! स्वयंकृतं दुःखं वेदयन्ति ?

उत्तर—गौतम ! अस्त्येककं वेदयन्ति, अस्त्येककं नो वेदयन्ति ।

प्रश्न—तत् केनार्थेन ?

उत्तर—गौतम ! उदीर्णं वेदयन्ति, नो अनुदीर्णं वेदयन्ति,
तत् तेनार्थेन एवं, यावद्-वैमानिकाः ।

प्रश्न—जीवो भगवन् ! स्वयंकृतमायुः वेदयति ?

उत्तर—गौतम ! अस्त्येककं वेदयति, अस्त्येककं नो वेदयति ।
यथा दुःखेन द्वौ दण्डकौ तथाऽऽयुष्केणापि द्वौ दण्डकौ—एकत्वपृथ-
क्त्विता, एकत्वेन यावद् वैमानिकाः, पृथक्त्वेनाऽपि तथैव ।

सूत्रार्थ-प्रश्न—भगवन् ! जीव स्वयंकृत दुःख-कर्म-
भोगता है ?

उत्तर—गौतम ! कुछ भोगता है, कुछ नहीं भोगता ।

प्रश्न—भगवन् ! सो किस प्रकार आप कहते हैं—‘कुछ
भोगता है कुछ नहीं भोगता ।’

उत्तर-गौतम! उदीर्ण-उदय में आये हुए-कर्म को भोगता है, अनुदीर्ण कर्म को नहीं भोगता। इस लिए कहा गया है-‘कुछ भोगता है, कुछ नहीं भोगता।’ इस प्रकार चौबीस दंडकों में, यावत्-वैमानिक तक समझना।

प्रश्न-भगवन्! जीव स्वयंकृत कर्म भोगते हैं ?

उत्तर-गौतम! कुछ भोगते हैं, कुछ नहीं भोगते।

प्रश्न-तो किस कारण ?

उत्तर-गौतम! उदीर्ण कर्म को भोगते हैं, अनुदीर्ण को नहीं भोगते, इस कारण ऐसा कहा है। इस प्रकार यावद्-वैमानिकों तक समझना चाहिए।

प्रश्न-भगवन्! जीव स्वयंकृत आयु को भोगता है ?

उत्तर-गौतम! कुछ को भोगता है, कुछ को नहीं भोगता। जैसे दुःख-कर्म-के विषय में दो दंडक कहे हैं, उसी प्रकार आयुष्य के सम्बन्ध में भी एकवचन और बहुवचन वाले दो दंडक कहने चाहिए। एक वचन से यावत्-वैमानिकों तक कहना और बहुवचन से भी उसी प्रकार कहना चाहिए।

व्याख्यान-गौतम स्वामी भगवान् महावीर से प्रश्न करते हैं-हे भगवन्! जीव क्या स्वयंकृत दुःख भोगता है ?

गौतम स्वामी ने स्वयंकृत (अपने किये) कहकर दूसरे द्वारा किये हुए दुःख को भोगने की बात हटाई है। इस प्रश्न द्वारा उन्होंने अन्य अनेक मतों के विधान का निषेध करके जैन धर्म की मान्यता प्रकट की है। किसी-किसी मत में यह स्वीकार किया गया है कि कर्म दूसरा करता है और उसका फल दूसरा भोगता है। गौतम स्वामी ने यह प्रश्न उपस्थित करके इस मान्यता को हटाया है।

कदाचित् कोई यह आशंका करे कि दूसरे के किये कर्म, दूसरा नहीं भोगता, इसमें क्या प्रमाण है? इसके उत्तर में शास्त्रकार का कथन यह है कि अगर ऐसा हो तो समस्त लौकिक और लोकोत्तर व्यवहार गड़बड़ में पड़ जायेंगे। यज्ञदत्त के भोजन करने से देवदत्त की भूख नहीं मिटती, यह प्रत्यक्ष देखा जाता है। यज्ञदत्त के निद्रा लेने से देवदत्त की थकावट नहीं मिटती, यह भी प्रत्यक्ष सिद्ध है। देवदत्त के औषध-सेवन से यज्ञदत्त का रोग नहीं मिटता, यह बात कान नहीं जानता? जो भोजन करता है उसी की भूख मिटती है, जो सोता है उसी की थकावट दूर होती है और जो औषध का सेवन करता है वही निरोग होता है, यह बात इतनी प्रसिद्ध है कि बच्चा-बच्चा जानता है। यह बात कर्म के सम्बन्ध में भी समझी जा सकती है। कहा भी है—

स्वयंकृतं कर्म यदात्मना पुरा,

फलं तदीयं लभते शुभाशुभम् ।

परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं,

स्वयंकृतं कर्म निरर्थकं तदा ॥

अर्थात्—स्वयं आत्मा ने जो कर्म पहले उपाजन किये हैं, उन्हीं कर्मों का शुभ या अशुभ फल वह आत्मा भोगता है। अगर दूसरे के किये हुए कर्मों का फल आत्मा भोगने लगे तो अपने किये कर्म निष्फल हो जाएँगे।

कई लोग कहते हैं—लोक में यह देखा जाता है कि कोई कर्म करता है और दूसरा कोई उसका फल भोगता है। उदाहरणार्थ—इंग्लैण्ड और जर्मनी परस्पर युद्ध करते हैं, मगर उसका फल भारतवर्ष को भी भुगतना पड़ता है। इस सम्बन्ध में शास्त्रकार कहते हैं कि यह समझ की कमी है। धर्म शास्त्र के ज्ञाता यही मानते हैं कि कर्त्ता द्वारा जो किया जाता है, वही कर्म कहलाता है। जिसे कर्त्ता नहीं करता वह कर्म ही नहीं है।

क्रियते-इति कर्म ।

अर्थात्—कर्त्ता द्वारा जो किया जाय, वह कर्म कहलाता है।

अगर नहीं किये हुए कर्म भोगे जाते हैं, तो किये हुए कर्म बिना फल के ही नष्ट भी हो जाएँगे। ऐसी स्थिति में बड़ी गड़बड़ी मचेगी। कल्पना कीजिए एक व्यक्ति ने शुभ कर्म किया और दूसरे ने अशुभ कर्म किया। शुभ कर्म का फल शुभ और अशुभ कर्म का फल अशुभ है। अगर एक व्यक्ति दूसरे के कर्म का भी फल भोगता है तो उसे शुभ और अशुभ फल एक ही साथ भोगना पड़ेगा ! दूसरे के कर्म का फल भोगने के कारण कोई भी प्राणी सुखी नहीं हो सकेगा, क्योंकि उसे दूसरों के अशुभ कर्म भोगने पड़ेंगे। इसी प्रकार कोई भी जीव अशुभ कर्म करके भी दुःख नहीं भोगेगा, क्योंकि वह

दूसरों के शुभ कर्म से सुख प्राप्त कर लेगा। किसी भी मनुष्य को मुक्ति प्राप्त न हो सकेगी, क्योंकि उसे पर-कृत कर्मों का फल भोगना होगा। इस प्रकार उसके मोक्षसाधक सभी अनुष्ठान निष्फल हो जाएँगे। ऐसा होने से कृतकर्मनाश और अकृतकर्मभ्यागम दोष आएँगे अर्थात् किये कर्मों का फल न मिलना और बिना किये का फल मिलना, यह दोनों बाधाएँ उपस्थित होंगी। अतएव यही मानना अनुभव और युक्ति के अनुकूल है कि जीव अपने किये हुए कर्मों का ही फल भोगता है, पराये किये का नहीं।

कर्मों मत समझो कि कर्त्ता दूसरा है और आपत्ति हमारे सिर आ पड़ी है। बिना किया कोई भी कर्म भोगा नहीं जाता। यह संभव है कि अभी तुमने कोई कार्य नहीं किया है और फल भोगना पड़ रहा है, मगर यह फल तुम्हारे ही किसी समय किये कर्म का फल है। प्रत्येक कर्म का फल तत्काल नहीं मिल जाता। इसलिए हमारे किस कर्त्तव्य का फल किस समय मिलता है, यह चाहे समझ में न आवे, तथापि यह सुनिश्चित है कि तुम जो फल आज भोग रहे हो वह तुम्हारे ही किसी कर्म का है।

हम अपने ही किये कर्म का फल भोगते हैं, यह जान लेने पर शान्ति ही रहती है, अशान्ति नहीं होती। अपनी आँख में अपनी ही उँगली लग जाय तो उलहना किसे दिया जाय ! उसे शान्तिपूर्वक सह लेने के सिवाय और क्या उपाय है ? दूसरा उँगली लगाता तो उलहना दिया जा सकता था। लेकिन ज्ञानी जन कहते हैं—अगर कभी दूसरे की उँगली आँख में लग जाय, तो भी समभाव रखना चाहिए, क्योंकि

दूसरा निमित्त मात्र है। वास्तव में तो जीव अपना किया कर्म ही भोगता है।

उक्त बातों को ध्यान में रखते हुए ही गौतम स्वामी ने अपने किये हुए कर्म के विषय में प्रश्न किया है। पहला प्रश्न दुःख के सम्बन्ध में किया गया है, अतः पहले यह देखना चाहिए कि दुःख किसे कहते हैं ?

मगर इस प्रश्न का उत्तर देने से पूर्व एक बात पर और विचार कर लेना आवश्यक है। वह यह है कि दुःख अगर अपने ही किये भोगे जाते हैं तो सुख किस का किया भोगा जाता है ? इस का उत्तर यह है कि संसार के दुःख तो दुःख हैं ही, लेकिन संसार के सुख भी दुःख ही हैं। पर के संयोग से कभी सुख नहीं प्राप्त होता, दुःख ही होता है।

कहा जा सकता है कि संसार में साक्षात् सुख अनुभव किया जाता है, सभी सुख को जानते हैं, फिर इन्हें सुख न मानकर दुःख क्यों कहा गया है ? इस सम्बन्ध में यहां इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि भोगोपभोग से प्राप्त होने वाला सुख, दुःख का कारण है। सुख भोगने से दुःख की दीर्घ परम्परा पैदा होती है। इसके अतिरिक्त वह सुख परार्थीन है—भोग्य पदार्थों के, इन्द्रियों के और शारीरिक शक्ति के अधीन है। जहां परार्थीनता है वहां दुःख है। उस सुख में निराकुलता नहीं है, व्याकुलता है, अतृप्ति है, भय है, उसका शीघ्र अन्त हो जाता है। उसकी मात्रा अत्यल्प होती है। इन सब कारणों से सांसारिक सुख, वास्तव में दुःखरूप है, दुःख-

होते थे, वही थोड़े समय बाद दुःखदायी कैसे प्रतीत होने लगे ? लड्डू में अगर सुख देने का स्वभाव है तो वह प्रत्येक स्थिति में सुख क्यों नहीं देता ? इससे यह स्पष्ट है कि लड्डू में सुख की कल्पना करना भ्रम है । वास्तविक बात यह है कि जब एक दुःख होता है तो उस दुःख के कारण दूसरा दुःख भी सुख प्रतीत होने लगता है । संसार में तो दुःख ही दुःख है । नरक से लेकर सर्वार्थसिद्ध विमान तक यही बात है । संसार की जिस वस्तु में जितना अधिक सुख माना जायगा, उसके पीछे उतना ही अधिक दुःख लगा हुआ है । उदाहरणार्थ-चांदी के कड़ों में कम और सोने के कड़ों में अधिक सुख माना जाता है । अतएव चांदी के कड़ों के गुम जाने की अपेक्षा सोने के कड़े गुम जाने में अधिक दुःख है । इस प्रकार जिसे जितना ज्यादा आनन्द दायक मानोगे, वह उतना ही अधिक दुःखद सिद्ध होगा ।

सारांश यह है कि संसार के सुख भी वस्तुतः दुःख ही हैं । किंपाक फल दीखने में बहुत सुन्दर और खाने में बहुत स्वादिष्ट होता है, पर उसका खाना मृत्यु को आमंत्रण देना है । उसे आप सुख मानेंगे या दुःख ?

‘दुःख !’

इसी प्रकार कर्म-मात्र दुःखरूप है, चाहे वह साता-वेदनीय हो, या असातावेदनीय हो ।

गौतम स्वामी का प्रश्न है कि जीव अपने किये कर्म भोगता है या नहीं भोगता ? इसके उत्तर में भगवान् ने फर्मा-या-किसी कर्म को भोगता है, किसी को नहीं भोगता ।

इस संक्षिप्त उत्तर से वस्तुस्थिति स्पष्ट न होते देख गौतम स्वामी ने फिर पूछा—भगवान् ! जीव किसी कर्म को भोगता है, किसी को नहीं भोगता; इसका क्या कारण है ?

इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् फर्माते हैं—गौतम ! कर्म की दो अवस्थाएँ हैं—उदयावस्था और अनुदयावस्था । जो कर्म जदीरणा द्वारा या स्वाभाविक रूप से उदय में आये हैं, उन्हें जीव भोगता है, और जो कर्म अब तक उदय में नहीं आये हैं, उन्हें नहीं भोगता । इस लिए सामान्य रूप में यही कहा जा सकता है कि जीव अपने किये कर्म भोगता भी है और नहीं भी भोगता है ।

यहां यह आशंका हो सकती है कि जगत् में कर्मों के फल में कोई व्यवस्था नहीं देखी जाती । एक हिंसा करने वाला, झूठ बोलने वाला और चोरी करने वाला व्यक्ति सुखमय जीवन व्यतीत करता है और इसके विपरीत अच्छे काम करने वाला धर्मात्मा गरीबी और मुसीबत की जिन्दगी बिताता है । ऐसी स्थिति में यह कैसे माना जा सकता है कि कर्मों का फल अवश्य होता है, अथवा अच्छे कर्मों का अच्छा फल और बुरे कर्मों का बुरा फल मिलता है ?

इस शंका का समाधान करने के उद्देश्य से ही गौतम स्वामी ने यह प्रश्न किया है और भगवान् ने उत्तर दिया है । पहले बतलाया गया है कि कर्म की दो अवस्थाएँ हैं—उदयावस्था और अनुदयावस्था । चोरी करना, झूठ बोलना और दूसरों को सताना पाप-कर्म है और उसका फल अशुभ ही हो सकता है, मगर ऐसे पापी के पापकर्म अभी उदय-अवस्था में नहीं आये हैं । वह अपने पहले किये हुए किसी शुभकर्म

का फल इस समय भोग रहा है, इसी कारण सुखी मानलूम होता है। वर्त्तमान में किये जाने वाले अशुभ कर्मों की जब उदय-अवस्था होगी, तब उसे इनका फल भी अवश्य भोगना पड़ेगा। यही बात दुखी धर्मात्मा के विषय में लागू पड़ती है। इस समय अगर कोई धर्मनिष्ठ पुरुष दुखी है तो समझना चाहिए कि वह पहले किये हुए किसी अशुभ कर्म का फल भोग रहा है। उसके वर्त्तमानकालीन धर्म कार्यों का फल अभी नहीं हो रहा है। पहले के कर्म उदयावस्था में हैं और वर्त्तमान-कालीन कर्म अनुदय-अवस्था में हैं। जब वह उदयावस्था में आएँगे तो उनका अच्छा फल उसे अवश्य प्राप्त होगा।

गौतम स्वामी फिर पूछते हैं—भगवान् ! क्या चौबीस दंडकों के सभी जीव इसी प्रकार अपने किये कर्म भोगते हैं ? इसके उत्तर में भगवान् फर्माते हैं—हाँ गौतम, इसी प्रकार भोगते हैं ?

पहले प्रश्न में और इस प्रश्न में क्या अन्तर रहा ? यह प्रश्न इसलिए किया गया है कि नरक के जीव को तो परमाधामी देव दुख देते हैं, फिर क्या वहाँ पर भी जीव अपने ही किये दुःख भोगता है ? भगवान् ने इस प्रश्न का उत्तर 'हाँ' में दिया है, इससे यह सिद्ध हुआ कि नरक के जीव भी अपने ही किये कर्मों का फल भोगते हैं। कोई भी जीव दूसरे के किये कर्म नहीं भोगता। परमाधामी जीव निमित्त-मात्र हैं। वास्तव में असली कारण तो अपने २ कर्म ही हैं।

गौतम स्वामी ने पहला प्रश्न एक जीव की अपेक्षा से किया था, अब वह बहुत जीवों की अपेक्षा कर रहे हैं। इस

प्रश्न के उत्तर में भी भगवान् ने 'हाँ' कहा है। अर्थात् जो उत्तर एक जीव के सम्बन्ध में है, वही बहुत जीवों के संबंध में भी है। और वह उत्तर यही कि बहुत जीव (सभी जीव) अपने ही किये कर्म का फल भोगते हैं और उदय-प्राप्त कर्म का फल भोगते हैं, अनुदय-प्राप्त का फल नहीं भोगते। यह बात चौबीसों ही दंडकों के जीवों के लिये समान रूप से चरितार्थ होती है।

दुख या कर्म सम्बन्धी प्रश्नोत्तर के पश्चात् गौतम स्वामी ने दूसरा प्रश्न किया कि:—भगवन् ! जीव अपने किये आयुष्य को वेदता है ? इसका उत्तर भगवान् फर्माते हैं—हे गौतम ! जीव अपने उपार्जन किये आयुष्य को वेदता है, पर-कृत को नहीं वेदता।

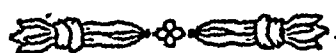
यहाँ यह शंका की जा सकती है कि आयु-कर्म आठ कर्मों के अन्तर्गत है। अतएव समुच्चय रूप से कर्मों के विषय में जो प्रश्नोत्तर किया जा चुका है, वह आयु-कर्म पर भी लागू होता ही है। उसी प्रश्नोत्तर से यह सिद्ध हो जाता है कि जीव स्वयं-कृत आयु को भोगते हैं। तथापि यहाँ अलग प्रश्नोत्तर आयु-कर्म के विषय में क्यों किया गया है ?

इसका समाधान यह है कि लोक-भ्रम निवारण के लिये विशेष रूप से यह प्रश्नोत्तर किया गया है। महाभारत आदि ग्रन्थों में यह कल्पना पाई जाती है कि आयु भी दी और ली जा सकती है। इसके अतिरिक्त कई अज्ञान पुरुष अपनी आयु बढ़ाने के लिए बकरा मारते हैं और समझते हैं कि हमने उस की आयु ले ली है। इस प्रकार की मूर्खता का निवारण करने के लिये भगवान् ने यह स्पष्ट कर दिया है कि अपनी आयु

ही भोगी जाती है, दूसरे की आयु कोई नहीं भोग सकता । अपनी उषार्जल की हुई आयु में से भी किसी आयु का भोग होता है, किसी का नहीं होता । उदाहरणार्थ—कोई मनुष्य यहाँ मौजूद है लेकिन उसने स्वर्ग की आयु बाँध ली है । वह पहले बँधी मनुष्य-आयु को भोग रहा है और अभी बँधी देव-आयु को नहीं भोग रहा है—आगे भोगेगा, क्योंकि उसका उदय अभी नहीं आया है । चौबीसों दण्डों के लिये आयु के विषय में यही बात समझनी चाहिए ।



कारकी जीव सब सम्मान है ?



मूलपाठः—

प्रश्न—नेरइया एं भंते ! सब्बे समाहारा,
सब्बे समसरीरा, सब्बे समुस्सासनीसासा ?

उत्तर—गोयमा ! एो इणट्टे समट्टे ।

प्रश्न—से केणट्टेणं भंते ! एवं चुच्चइ—
'नेरइया नो सब्बे समाहारा, नो सब्बे समसरीरा,
नो सब्बे समुस्सासनीसासा ?'

उत्तर—गोयमा ! नेरइया दुविहा पन्नत्ता,
तंजहा—महासरीरा य अप्पसरीरा य । तत्थ णं
जे ते महासरीरा ते बहुतराए पोग्गले आहारेंति,
बहुतराए पोग्गले परिणामेंति, बहुतराए पोग्गले

उस्ससंति, बहुतराए पोग्गले नीससंती;
 अभिक्खणं आहारेंति, अभिक्खणं परिणामेंति
 अभिक्खणं उस्ससंति, अभिक्खणं नीससंति ।
 तत्थ एं जे ते अप्पसरीरा ते एं अप्पतराए
 पोग्गले आहारेंति, अप्पतराए पोग्गले परिणा-
 मेंति, अप्पतराए पोग्गले उस्ससंति, अप्पतराए
 पोग्गले नीससंति, आहच्च आहारेंति, आहच्च
 परिणामेंति, आहच्च उस्ससंति, आहच्च नीससंति;
 से तेण्डेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ-नेरइया सव्वे
 नो समाहारा, नो सव्वे समसरीरा, नो सव्वे
 समुस्सासनीसासा ।’

संस्कृत-छाया-प्रश्न—नैरयिका भगवन् ! सर्वे समाहाराः,
 सर्वे समशरीराः, सर्वे समोच्छ्वास-निःश्वासाः ?

उत्तर—गौतम ! नाऽयमर्थः समर्थः ।

प्रश्न—तत्केनार्थेन भगवन् ! एवंमुच्यते—‘नैरयिका नो सर्वे
 समाहाराः, नो सर्वे समशरीराः, नो सर्वे समोच्छ्वास-निःश्वासाः?’

उत्तर—गौतम ! नैरयिका द्विविधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—महा-

शरीराश्च, अल्पशरीराश्च । तत्र ये ते महाशरीरास्ते बहुतरान् पुद्गलान्
 आहारयन्ति, बहुतरान् पुद्गलान् परिणमयन्ति, बहुतरान् पुद्गलान्
 उच्छ्वसन्ति बहुतरान् पुद्गलान् निः—श्वसन्ति । अभिक्षणमाहारयन्ति,
 अभिक्षणं परिणमयन्ति, अभिक्षणमुच्छ्वसन्ति, अभिक्षणं निःश्वसयन्ति,
 तत्र ये ते अल्पशरीरास्ते अल्पतरान् पुद्गलान् आहारयन्ति, अल्पतरान्
 पुद्गलान् परिणमयन्ति, अल्पतरान् पुद्गलानुच्छ्वसन्ति, अल्पतरान्
 पुद्गलान् निःश्वसन्ति, आहत्य आहारयन्ति, आहत्य परिणमयन्ति,
 आहत्योच्छ्वसन्ति, आहत्य निःश्वसन्ति, तत् तेनार्थेन गौतम !
 एवमुच्यते—‘नैरयिका नो सर्वे समाहाराः, नो सर्वे समशरीराः, नो सर्वे
 समोच्छ्वासनिःश्वासाः’ ।

मूलार्थ—प्रश्न—भगवन् ! सब नारकी समान आहार
 वाले, समान शरीर वाले, तथा समान उच्छ्वास और
 निःश्वास वाले हैं ?

उत्तर—गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है—ऐसी
 बात नहीं है ।

प्रश्न—भगवन् ! इस प्रकार आप किस हेतु से कहते
 हैं कि—‘सब नारकी समान आहार वाले, समान शरीर
 और समान उच्छ्वास-निःश्वास वाले नहीं हैं ?

उत्तर—गौतम ! नारकी दो प्रकार के कहे गये हैं ।
 वे इस प्रकार—बड़े शरीर वाले और छोटे शरीर वाले । इन

में जो बड़े शरीर वाले हैं, बहुत पुद्गलों का आहार करते हैं, बहुत पुद्गलों को परिणमाते हैं, बहुत उच्छ्वास-निश्वास लेते हैं; बार-बार आहार करते हैं, बार-बार परिणमाते हैं, बार-बार उच्छ्वास तथा निश्वास लेते हैं। तथा उनमें जो छोटे शरीर वाले हैं, वे थोड़े पुद्गलों का आहार करते हैं, थोड़े पुद्गलों को परिणमाते हैं, थोड़ा उच्छ्वास-निश्वास लेते हैं, कदाचित् आहार करते हैं, कदाचित् परिणमाते हैं, कदाचित् उच्छ्वास तथा निश्वास लेते हैं। इसलिए हे गौतम! इस हेतु से ऐसा कहा जाता है कि—‘सर्व नारकी समान आहार वाले, समान शरीर वाले, समान उच्छ्वास तथा निश्वास वाले नहीं हैं।’

व्याख्यान—श्रीगौतम स्वामी प्रश्न करते हैं कि—हे भगवन्! नैरयिक दुख में पड़े हैं। उन सबका आहार समान है? वे समान शरीर वाले हैं? और उन सबका श्वास तथा निश्वास भी एक सरीखा है?

इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् कहते हैं—‘नहीं गौतम! ऐसी बात नहीं है। सर्व नैरयिकों का आहार आदि समान नहीं है।’ तब गौतम स्वामी ने फिर प्रश्न किया—प्रभो! क्या कारण है? सर्व नारकियों का आहार वगैरह समान क्यों नहीं है? भगवान् फर्माते हैं—गौतम! मैंने और भूतकाल के सर्वज्ञों ने दो प्रकार के नारकीय देखे हैं और उनका कथन भी किया है। कोई नैरिये महाशरीर वाले होते हैं, कोई अल्प-

शरीर वाले होते हैं। जब उनके शरीर में भिन्नता है तो आहार आदि में भिन्नता होना स्वभाविक है।

बड़ा और छोटा शरीर अपेक्षा से है। छोटे की अपेक्षा कोई वस्तु बड़ी कहलाती है और बड़ी की अपेक्षा छोटी कहलाती है। नारकियों का छोटे से छोटा शरीर अंगुल के असंख्यातवें भाग जितना है और बड़े से बड़ा पाँच सौ धनुष बराबर है। यह दोनों प्रकार के शरीर भविष्यारणीय शरीर की अपेक्षा से कहे गये हैं। उत्तर विक्रिया की अपेक्षा शरीर के परिमाण में अन्तर पड़ जाता है। सारांश यह है कि पूर्वोक्त परिमाण शरीर का स्वाभाविक परिमाण है।

इत्तरवैक्रिय शरीर अर्थात् इच्छानुसार बड़ा या छोटा बनाया हुआ शरीर। जब इच्छापूर्वक बड़ा या छोटा शरीर बनाया जाता है तब वह छोटे से छोटा अंगुल के संख्यातवें भाग तक हो सकता है, इससे अधिक छोटा नहीं हो सकता। इसी प्रकार बड़े से बड़ा एक हजार धनुष का हो सकता है, इससे ज्यादा बड़ा नहीं हो सकता।

गौतम स्वामी ने जो प्रश्न किया है, उसमें पहले आहार की बात पूछी है, उसके बाद शरीर की बात पूछी है। मगर भगवान् ने पहले शरीर के सम्बन्ध में निरूपण किया है। इस व्यक्तिक्रम का कारण यह है कि शरीर का परिमाण बताये बिना आहार आदि के विषय में ठीक और सुबोध उत्तर नहीं दिया जा सकता था। शरीर का परिमाण बता देने पर ही आहार, श्वासोच्छ्वास आदि का ठीक परिमाण बतलाया जा सकता था। इसी कारण शरीर की बात बाद में पूछने पर

भी पहले बतलाई गई है और आहार का प्रश्न यद्यपि पहला था, तथापि उसका उत्तर पीछे दिया गया है ।

बड़े शरीर वाला नैरयिक बहुत पुद्गलों का आहार करता है और छोटे शरीर वाला कम पुद्गलों का । यहां भी यही बात देखी जाती है कि बड़े शरीर वाला अधिक खाता है और छोटे शरीर वाला कम । इसके लिए हाथी और शशक (खरगोश) का उदाहरण दिया जा सकता है ।

आहार का यह परिमाण भी सापेक्ष ही समझना चाहिए । अर्थात् बड़े शरीर वाले के आहार की अपेक्षा छोटे शरीर वाले का आहार कम है, और छोटे शरीर वाले के आहार की अपेक्षा बड़े शरीर वाले नारकी का आहार अधिक है ।

यहां यह तर्क किया जा सकता है कि आपने इस लोक के प्राणियों का जो उदाहरण दिया है सो उससे कोई निश्चित नियम सिद्ध नहीं होता । कभी-कभी यह देखा जाता कि छोटे शरीर वाला बहुत आहार करता है और बड़े शरीर वाला कोई प्राणी अल्प आहार करता है । ऐसी अवस्था में आप का दृष्टान्त कैसे घट सकता है ?

इसका समाधान यह है कि बहुत-सी बातें प्रायिक कथन रूप होती हैं अर्थात् बहुत-अधिकांश-को दृष्टि में रख कर कही जाती हैं । कहीं-कहीं यह बात अवश्य देखी जाती है कि बड़े शरीर वाला कम और छोटे शरीर वाला अधिक आहार करता है । जुगलियों का शरीर अन्य मनुष्यों की अपेक्षा बड़ा होता है, लेकिन आहार उनका कम होता है । दूसरे मनुष्यों का शरीर जुगलियों की अपेक्षा छोटा होता है, मगर

आहार उनका अधिक होता है। इसी प्रकार अन्यत्र भी इस क्रम में अन्तर देखा जाता है। ऐसा होने पर भी प्रायः यह सत्य ही है कि बड़े शरीर वाले का आहार अधिक होता है। अपवाद सभी जगह पाये जाते हैं, मगर सामान्य विधान भी होते ही हैं। प्रस्तुत कथन बहुतों को दृष्टि में रखकर ही किया गया है। अतएव बड़े शरीर वाला नारकी अधिक आहार करता है और छोटे शरीर वाला थोड़ा आहार करता है। कदाचित् नैरयिकों में भी आहार और शरीर का व्यतिक्रम कहीं पाया जाय, तोभी बहुतों की अपेक्षा यह कथन होने से निर्दोष है।

नरक के उन जीवों को, जो छोटे शरीर में उत्पन्न होते हैं, महात्रास नहीं होता और कुछ साता भी मिलती है। महा-शरीर वाले नारकियों को जुधा की वेदना भी अधिक होती है और ताड़ना तथा क्षेत्र आदि से उत्पन्न होने वाली पीड़ा भी अधिक होती है।

बड़े को जितनी ताड़ना होती है, उतनी छोटे को नहीं। यह कथन प्रसिद्ध ही है कि हाथी के पैर के नीचे और जीव तो दबकर मर जाते हैं, परन्तु चींटी प्रायः बच जाती है।

बड़े शरीर वालों का आहार भी बहुत होता है और परिणामन भी बहुत होता है। यह परिणामन आहार की अपेक्षा से है। इसी प्रकार बड़े शरीर वाले नैरयिक श्वास में बहुत पुद्गल ग्रहण भी करते हैं और निश्वास में बहुत पुद्गलों को छोड़ते भी हैं। बड़े शरीर वाले को वेदना ज्यादा होती है इस कारण उन्हें श्वासोच्छ्वास भी ज्यादा लेना पड़ता है। छोटे शरीर वाले को दुःख कम होता है, अतः उनका श्वासोच्छ्वास भी कम होता है।

इस वाक्य में 'जे' और 'ते' पद आये हैं । इनके संबंध में यह आशंका की जा सकती है कि अकेले 'जे' कह देने से काम चल सकता था, फिर 'ते' कहने की क्या आवश्यकता थी ? इस शंका का उत्तर यह है कि भाषा के सौन्दर्य के लिए 'ते' पद का प्रयोग किया गया है ।

भगवान् फर्मति हैं—हे गौतम ! जिसका शरीर छोटा होता है, वह आहार कम लेता है और श्वासोच्छ्वास में भी कम पुद्गलों को ही ग्रहण करता है । इसके सिवाय कदाचित् आहार लेता है और कदाचित् नहीं भी लेता ।

शंका—पहले उद्देशक में नारकी जीवों के वर्णन में, कहा गया है कि नारकी जीव निरन्तर आहार करते हैं । यहाँ कहा जा रहा है कि कदाचित् आहार करते हैं, कदाचित् नहीं करते । दोनों कथन परस्पर विरोधी हैं । तब इनमें से किसे सत्य समझा जाय ?

समाधान—यह सारा कथन बड़े शरीर की अपेक्षा से है । इसके सिवाय जब जीव अपर्याप्त शरीर में होते हैं, तब लोभ-आहार की अपेक्षा से आहार नहीं करते हैं, पर्याप्त शरीर वाले होने पर आहार करते हैं । इसी दृष्टि कोण से यह कहा गया है कि कदाचित् आहार करते हैं और कदाचित् आहार नहीं करते हैं ।

उपर्युक्त सब कथन का आशय यह है कि सब नरक के जीव न तो समान आहार करते हैं; न समान श्वासोच्छ्वास ही लेते हैं, क्योंकि उनका शरीर अपेक्षा कृत छोटा बड़ा है ।

समकर्महि प्रश्नोत्तर



मूलपाठः—

प्रश्न—नेरइया एं भंते ! सवे समकम्मा ?

उत्तर—गोयमा ! एो इण्हे समहे ।

प्रश्न—से केण्हेणं ?

उत्तर—गोयमा ! नेरइया दुविहा पन्नत्ता,
तंजहा—पुव्वोववन्नगा य, पच्छोववन्नगा य ।
तत्थ णं जे ते पुव्वोववन्नगा ते एं अप्पकम्मतरागा,
तत्थ णं जे ते पच्छोववन्नगा ते एं महाकम्म-
तरागा, से तेण्हेणं गोयमा !०

प्रश्न—नेरइया एं भंते ! सवे समवन्ना ?

उत्तर—गोयमा ! नो इण्हे समहे ।

प्रश्न—से केणट्टेणं तह चेव० ?

उत्तर—गोयमा ! जे ते पुब्बोववन्नगा ते णं विसुद्धवन्नतरागा, तत्थ एं जे ते पच्छोववन्नगा ते णं अविसुद्धवन्नतरागा, तहेव से तेणट्टेणं एवं०—

प्रश्न—नेरइया एं भंते ! सव्वे समलेस्सा ?

उत्तर—गोयमा ! एो इणट्टे समट्टे ।

प्रश्न—से केणट्टेणं जाव—‘नो सव्वे समलेस्सा ?’

उत्तर—नेरइया दुविहा पणत्ता, तंजहा-पुब्बोववन्नगा य पच्छोववन्नगा य; तत्थ एं जे ते पुब्बोववन्नगा ते एं विसुद्धलेस्सतरागा, तत्थ एं जे ते पच्छोववन्ना ते एं अविसुद्धलेस्सतरागा, से तेणट्टेणं०—

संस्कृत छाया—प्रश्न—नैरयिका भगवन् ! सर्वे समकर्माणि ?

उत्तर—गौतम ! नायमर्थः समर्थः ।

प्रश्न तत्केनार्थेन ?

उत्तर—गौतम ! नैरायिका द्विविधाः प्रज्ञप्ताः; तद्यथा—पूर्वो-
पपन्नकाश्च पश्चादुपपन्नकाश्च । तत्र ये ते पूर्वोपपन्नकास्तेऽल्पकर्मतरकाः,
तत्र ये ते पश्चादुपपन्नकास्ते महाकर्मतरकाः, तत् तेनार्थेन गौतम ! ०

प्रश्न—नैरायिका भगवन् ! सर्वे समवर्णाः ?

उत्तर—गौतम ! नायमर्थः समर्थः ।

प्रश्न—तत् केनार्थेन—तथैव ० ?

उत्तर—गौतम ! ये ते पूर्वोपपन्नकास्ते विशुद्धवर्णतरकाः, तत्र
ये ते पश्चादुपपन्नकास्तेऽविशुद्धवर्णतरकाः, तथैव तत् तेनार्थेनैवम् ।

प्रश्न—नैरायिका भगवन् ! सर्वे समलेश्याः ?

उत्तर—गौतम ! नायमर्थः समर्थः ।

प्रश्न—तत्केनार्थेन, यावत्--'नो सर्वे समलेश्याः !'

उत्तर—गौतम ! नैरायिका द्विविधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—पूर्वो-
पपन्नकाश्च, पश्चादुपपन्नकाश्च । तत्र ये ते पूर्वोपपन्नकास्ते विशुद्धलेश्याः,
तत्र ये ते पश्चादुपपन्नकास्तेऽविशुद्धलेश्याः । तत्तेनार्थेन—

मूलार्थ-प्रश्न-भगवन् ! सब नारकी समान कर्म वाले हैं ?

उत्तर—गौतम ! यह समर्थ नहीं है !

प्रश्न—भगवन् ! किस कारण से ?

उत्तर—गौतम ! नारकी जीव दो प्रकार के कहे गये हैं । वह इस प्रकार—पूर्वोपपन्नक-पहले उत्पन्न हुए, और पश्चादुपपन्नक-पीछे उत्पन्न हुए । इनमें जो नैरयिक पूर्वोपपन्नक हैं वे अल्प कर्म वाले हैं और जो पश्चादुपपन्नक हैं वे महाकर्म वाले हैं । इसलिए हे गौतम ! इस हेतु से यह कहा जाता है कि—‘नारकी सब समान कर्म वाले नहीं हैं ?’

प्रश्न—भगवन् ! सब नारकी समान वर्ण वाले हैं ?

उत्तर—गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है ।

प्रश्न—भगवन् ! सो किस कारण से ?—(ऐसा कहा जाता है कि सब नारकी समान वर्ण वाले नहीं हैं ?)

उत्तर—गौतम ! नारकी दो प्रकार के हैं—पूर्वोपपन्नक और पश्चादुपपन्नक । उनमें जो पूर्वोपपन्नक हैं वे विशुद्ध वर्ण वाले और जो पश्चादुपपन्नक हैं वे अविशुद्ध वर्ण वाले हैं । इस लिए गौतम ! ऐसा कहा गया है ।

प्रश्न—भगवन् ! सब नारकी समान लेश्या वाले हैं ?

उत्तर—गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है ।

प्रश्न—भगवन् ! किस कारण से कहा जाता है—
यावद्—सब नारकी समान लेश्या वाले नहीं हैं ?

उत्तर—गौतम ! नारकी दो प्रकार के कहे गये हैं । वह इस प्रकार—पूर्वोपपन्नक और पश्चादुपपन्नक । उनमें जो पूर्वोपपन्नक हैं वह विशुद्ध लेश्या वाले हैं, और उनमें जो पश्चादुपपन्नक हैं वह अविशुद्ध लेश्या वाले हैं । इस कारण ऐसा कहा जाता है कि सब नारकी समान लेश्या वाले नहीं हैं ।

व्याख्यान—नारकियों के आहार आदि के सम्बन्ध में प्रश्न कर चुकने के पश्चात् अब गौतम स्वामी ने कर्म के विषय में प्रश्न किया है कि क्या सभी नारकियों के कर्म समान हैं ? सभी नारकियों का वर्ण समान है ? सभी नारकियों की लेश्या समान है ? इन तीन प्रश्नों के उत्तर में भगवान् ने फरमाया है—गौतम ! सब नारकियों के कर्म, वर्ण और लेश्या समान नहीं हैं । गौतम स्वामी ने इस असमानता का कारण पूछा, तब भगवान् ने उत्तर दिया कि—हे गौतम ! नरक के जीवों के दो भेद हैं:—प्रथम वे जो पहले उत्पन्न हुए हैं, और दूसरे वे जो बाद में उत्पन्न हुए हैं । जो जीव नरक में पहले उत्पन्न हो चुके हैं, उन्होंने नरक की बहुत-सी स्थिति भोग ली है, उनके बहुत से कर्मों की निर्जरा हो चुकी है । इस कारण

वे अल्पकर्मी हैं। इसके विपरीत जो जीव बाद में उत्पन्न हुए हैं—हाल ही पैदा हुए हैं, उन्हें बहुत कर्म भोगने हैं, इसलिए वे बहुकर्मी हैं।

भगवान् का यह कथन भी अपेक्षा से ही समझना चाहिए। मान लीजिए, एक जीव दस हजार वर्ष की स्थिति बाँधकर हाल ही नरक में उत्पन्न हुआ है। और दूसरा जीव कई सागर की स्थिति से, उससे बहुत पहले उत्पन्न हो चुका है। दस हजार की स्थिति वाला चाहे बाद में ही उत्पन्न हुआ है, फिर भी वह पूर्वोत्पन्न सागरोपम की स्थिति वाले नारकी की अपेक्षा लघुकर्मी ही होगा। और पहले उत्पन्न होने वाला, सागरोपम की स्थिति वाला, दस हजार वर्ष की स्थिति वाले की अपेक्षा बहुकर्मी होगा। अगर दो जीव समान स्थिति बाँधकर नरक में गये हैं, तो उनमें से पहले उत्पन्न होने वाला लघुकर्मी होगा और पश्चात् उत्पन्न होने वाला बहुकर्मी होगा, क्योंकि पहले उत्पन्न हुए नारकी ने अपने अधिक कर्म भोग लिये हैं और पश्चात् उत्पन्न होने वाले ने कम भोगे हैं।

यही बात वर्ण के विषय में है। जिसने स्थिति का कुछ भाग भोग लिया है, उसका वर्ण शुद्ध होता है और जो अभी-अभी उत्पन्न हुआ है, उसने नहीं भोगा, इस कारण उसका वर्ण अशुद्ध होता है। अतएव जो जीव नरक में पहले उत्पन्न हो चुका है, उसका वर्ण शुद्ध है, जो बाद में उत्पन्न हुआ है उसका वर्ण, पूर्वोत्पन्न की अपेक्षा अशुद्ध है।

लेश्या के संबंध में भी यही बात है। लेश्या से यहाँ भ्रम्य लेश्या को ही ग्रहण करना चाहिए; क्योंकि द्रव्य लेश्या

वर्ण में आ चुकी है। इस प्रकार जो जीव नरक में पहले उत्पन्न हो चुका है उसकी भाव लेश्या पश्चात् उत्पन्न होने वाले जीव की अपेक्षा शुद्ध है और पश्चात् उत्पन्न होने वाले की भाव लेश्या पूर्वोत्पन्न की अपेक्षा अशुद्ध है।

उदाहरणार्थ—एक मनुष्य पहले जेल गया और दूसरा बाद में गया। पहले जेल जाने वाला आरम्भ में घबराया होगा, मगर उसके कारावास के दिन व्यतीत होते जाते हैं, जैसे-जैसे बसे शान्ति मिलती है और उसकी लेश्या शुद्ध होती जाती है। लेकिन जो मनुष्य हाल ही जेल में गया है, उसे पहले वाले की भांति शान्ति नहीं हुई है; अतएव उसकी लेश्या अपेक्षाकृत अधिक अशुद्ध है।

यही बात नरक के जीव के लिए है। नरक के जीव की लेश्या भी अपेक्षाकृत ही शुद्ध और अशुद्ध बतलाई गई है। सामान्य रूप से तो नरक में अशुद्ध लेश्या ही पाई जाती है, मगर अधिक अशुद्ध की अपेक्षा कम अशुद्ध लेश्या को यहां शुद्ध लेश्या कहा है।

शुद्ध और अशुद्ध लेश्या किसे समझना चाहिए, इस बात पर संक्षेप में विचार किया जाता है। हमारे अन्तःकरण में जो भावना, वासना या इच्छा होती है, वह लेश्या कहलाती है।

सुना गया है कि वैज्ञानिक आज कल मन की भावनाओं का भी फोटो लेते हैं। कहा जाता है कि पहले फोटोग्राफरों को यह पता नहीं था कि मन के विकल्पों का चित्र खींचा जा सकता है, मगर एक घटना ऐसी घटी कि जिस

से यह पता चल गया। एक अंगरेज सज्जन ने एक महिला का चित्र खींचा। उसमें महिला के साथ मुर्गी के बच्चे और बिल्ली का भी फोटो आ गया, क्योंकि महिला उनके सम्बन्ध में उस समय विचार कर रही थी। तभी यह पता लगा कि मन की भावनाओं का भी चित्र अंकित हो सकता है। मगर यह नहीं कहा जा सकता कि मानसिक भावना में किस कोटि की उग्रता हो तब उनका चित्र आता है, अन्यथा नहीं।

कहते हैं कि जिसके विचार अशुद्ध और क्रूर होते हैं, उसका फोटो भी भद्दा आता है। स्वार्थहीन, उदार तथा शुद्ध विचार वाले का फोटो साफ आता है।

जैन शास्त्रों में उन्हीं मानसिक भावों के लिए लेश्या का निरूपण किया गया है और उनकी शुद्धता-अशुद्धता को देखकर विशिष्ट ज्ञानियों ने उनके कृष्ण, नील आदि छह भेद भी बताये हैं। उत्तराध्ययन और प्रज्ञापना सूत्र में लेश्याओं का विस्तृत वर्णन पाया जाता है। वहाँ उनके वर्ण, गंध, रस आदि का भी निरूपण किया है।

जिसके मन में जैसे विचार होते हैं, वैसे ही परमाणु उसके आ चिपटते हैं। जिसके मन में किसी की हत्या करने की भावना होगी, उसके काले और काले में भी अत्यन्त भेद पुद्गल आ चिपटेंगे। तात्पर्य यह है कि छोटे परमाणु होने पर रंग भी खोटा हो जाता है।

विज्ञान की अनेक उपयोगी बातें जैन शास्त्र में पहले ही बतला दी गई हैं, लेकिन आज वह बातें शास्त्र के पन्नों में ही पड़ी हुई हैं। यह हम लोगों की कमजोरी या उपेक्षा है। आज

धर्मशास्त्र को गहराई से अध्ययन करने वाले और साथ ही विज्ञान के पारंगत पंडित हमारे यहाँ नहीं है। अतएव उन सब शास्त्रीय बातों पर यथेष्ट वैज्ञानिक प्रकाश नहीं पड़ता।

लेइयाएँ छह हैं—(१) कृष्ण (२) नील (३) कापोत (४) पीत (५) पद्म और (६) शुक्ल। इनमें से जब कोई मनुष्य कृष्ण लेश्या को त्याग कर नील लेश्या में आता है, तब शास्त्रकारों के कथनानुसार वह कापोत लेश्या की अपेक्षा अधिक अशुद्ध है, मगर कृष्ण लेश्या की अपेक्षा शुद्ध ही है। उसमें अपेक्षाकृत अधिक उदारता और शुभ विचार आ गये हैं। लेश्या के परिणामों की तरतमता समझाने के लिए एक उदाहरण इस प्रकार है:—

छह आदमी एक साथ जा रहे थे। उन्हें भूख लगी तो वे इधर-उधर दृष्टि दौड़ाने लगे। उन्हें एक फला हुआ आम का वृक्ष दिखाई दिया। सबने आम खाने का निश्चय किया। यहाँ तक सबके विचारों में समानता है, मगर आगे उनके विचारों में अन्तर पड़ जाता है। छहों में इस प्रकार वात्तालाप होने लगा।

पहले ने कहा—अपने पास कुल्हाड़ी भी है और अपन इतने आदमी हैं कि दो-दो हाथ मारते ही आम का पेड़ काट कर गिर जायगा। तब हम लोग मन चाहे आम खा लेंगे।

थोड़े-से आम खाने हैं, मगर परम्परा तक वृक्ष काट गिराने से कितनी हानि होगी, इस बात का विचार इस आदमी को नहीं है।

दूसरे आदमी ने कहा—यह वृक्ष न जाने कितने दिन

संमवेदनादि प्रश्नोत्तर



मूलपाठः—

प्रश्न—नेरइया एं भंते ! सवे समवेयणा ?

उत्तर—गोयमा ! एो इणट्टे समट्टे ।

प्रश्न—से केणट्टेणं ?

उत्तर—गोयमा ! नेरइया दुविहा पन्नत्ता,
तजहा—सण्णिभूआ य, असण्णिभूआ य; तत्थ
णं जे ते सण्णिभूआ ते णं महावेयणा, तत्थ
एणं जे ते असण्णिभूआ ते एणं अप्पवेयणतरांगा
से तेणट्टेणं गोयमा !०

प्रश्न—नेरइया एं भंते ! सवे समकिरिया ?

उत्तर—गोयमा ! एो इणट्टे समट्टे । .

प्रश्न--से केणहेणं ?

उत्तर--गोयमा ! नेरइया तिविहा पण्णत्ता ।
तंजहा-सम्मदिही, मिच्छदिही, सम्मामिच्छ-
दिही; तत्थ णं जे ते सम्मादिही तेसिं णं चत्तारि
किरियाओ पन्नत्ता । तंजहा--आरंभिया,
परिगाहिया, मायावत्तिया, अपच्चक्खाणकिरिया ।
तत्थ णं जे ते मिच्छदिही तेसिं णं पंच किरियाओ
कज्जंति, तंजहा--आरंभियां जाव मिच्छादंसण-
वत्तिआ । एवं सम्मा मिच्छादिहीणं पि से
तेणहेणं गोयमा ! ० ।

प्रश्न--नेरइया णं भंते ! सब्बे समाउआ
सब्बे समोववन्नगा ?

उत्तर--गोयमा ! एो इण्हे समहे ।

प्रश्न--से केणहेणं ?

उत्तर--गोयमा ! नेरइया चउव्विहा

पन्नत्ता, तंजहा-अत्थेगइआ समाउआ समो-
ववन्नगा, अत्थेगइआ समाउआ विसमोववन्नगा,
अत्थेगइआ विसमाउआ समोववन्नगा, अत्थे-
गइआ विसमाउआ विसमोववन्नगा, से तेणट्ठेणं
गोयमा । ० ।

संस्कृत- छाया--प्रश्न—नैरयिका भगवन् ! सर्वे समवेदनाः ?

उत्तर—गौतम ! नायमर्थः समर्थः !

प्रश्न—तत्तेनार्थेन ?

उत्तर—गौतम ! नैरयिका द्विविधाः प्रज्ञताः । तद्यथा-
संज्ञिभूताश्च, असंज्ञिभूताश्च तत्र ये ते संज्ञिभूतास्ते महावेदनाः, तत्र ये
ते ऽसंज्ञिभूतास्ते ऽल्पवेदनाः, तत्तेनार्थेन गौतम ! ० ।

प्रश्न—नैरयिका भगवन् ! सर्वे समक्रियाः ?

उत्तर—गौतम ! नायमर्थः समर्थः ।

प्रश्न—तत्तेनार्थेन ?

उत्तर—गौतम ! नारकास्त्रिविधाः प्रज्ञताः, तद्यथा—सम्यग्-
दृष्टिः, मिथ्यादृष्टिः, सम्यग्-मिथ्यादृष्टिः, तत्र ये ते सम्यग्दृष्टयस्तेषां

चतस्रः क्रियाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा-आरम्भिकी, पारिग्रहिकी, मायाप्रत्य-
क्षा, अप्रत्येक्याख्यानक्रियाः । तत्र ये ते मिथ्यादृष्टयस्तैः पञ्च क्रियाः
क्रियन्ते, तद्यथा-आरम्भिकी यावद् मिथ्यादर्शनप्रत्यया, एवं सम्यग्
मिथ्यादृष्टिनामपि, तत् तेनार्थेन गौतम ! ० ।

प्रश्न—नैरयिका भगवन् ! सर्वे समायुष्काः, सर्वे समोपपन्नकाः ?

उत्तर—गौतम ! नायमर्थः समर्थः ५

प्रश्न—तत् केनार्थेन ?

उत्तर—गौतम ! नारकाश्चतुर्विधाः प्रज्ञप्ताः । तद्यथा-
अस्त्येककाः समायुष्काः समोपपन्नकाः, अस्त्येककाः समायुष्काः
विपमोपपन्नकाः, अस्त्येकका विपमायुष्काः समोपपन्नकाः, अस्त्येकका
विपमायुष्का विपमोपपन्नकाः । तत् तेनार्थेन गौतम ! ० ।

मूलार्थ-प्रश्न—भगवन् ! सद्य नारकी समान वेदना
चाले है ?

उत्तर—गौतम ! यह समर्थ नहीं है !

प्रश्न—भगवन् ! किस कारण से ?

उत्तर—गौतम ! नारकी दो प्रकार के कहे गये
हैं । वह इस प्रकार-संज्ञिभूत और असंज्ञिभूत । उनमें जो

संज्ञिभूत हैं वे महवेदना वाले हैं। उनमें जो असंज्ञिभूत हैं वे अल्पवेदना वाले हैं। इस कारण, गौतम ! (ऐसा कहा जाता है कि सब नारकी समान वेदना वाले नहीं हैं।)

प्रश्न—भगवन् ! सब नारकी समान क्रिया वाले हैं ?

उत्तर—गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है।

प्रश्न—भगवन् ! सो किस कारण से ?

उत्तर—गौतम ! नारकी तीन प्रकार के कहे गये हैं। वे इस प्रकार सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि और सम्यग्-मिथ्यादृष्टि (मिश्रदृष्टि) उनमें जो सम्यग्दृष्टि हैं उन्हें चार क्रियाएँ कही गई हैं। वे इस प्रकार—आरंभिकी, पारिग्रहिकी, मायाप्रत्यया और अप्रत्याख्यानक्रिया। और जो मिथ्यादृष्टि हैं उन्हें पांच क्रियाएँ होती हैं। वे इस प्रकार—आरंभिकी यावत् मिथ्यादर्शनप्रत्यया। इसी प्रकार सम्यग्-मिथ्यादृष्टि को भी समझना चाहिए। इस कारण है गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि सब नारकी समान क्रिया वाले नहीं हैं।

प्रश्न—भगवन् ! सब नारकी समान आयुष्य वाले और समोपपन्नक (एक साथ उत्पन्न होने वाले) हैं ?

उत्तर—गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है।

प्रश्न—भगवन् ! किस कारण से ?

उत्तर—गौतम ! नारकी चार प्रकार के कहे गये हैं । वह इस प्रकार—कोई कोई समान आयु वाले और एक साथ ही उत्पन्न होने वाले हैं, कोई-कोई समान आयु वाले परन्तु विषमोपपन्नक-आगे-पीछे उत्पन्न होने वाले हैं । कोई-कोई विषम आयु वाले और एक साथ उत्पन्न होने वाले हैं और कोई-कोई विषम आयु वाले तथा आगे-पीछे उत्पन्न होने वाले हैं । इस कारण गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि सब नारकी समान आयु वाले और एक साथ उत्पन्न होने वाले नहीं हैं ।

व्याख्यान—लेख्या संबंधी प्रश्नोत्तर के पश्चात् गौतम-स्वामी ने वेदना के विषय में प्रश्न किया है । वह पूछते हैं—भगवान् ! क्या सभी नरक के जीवों को एक सरीखी वेदना होती है ? भगवान् ने इस प्रश्न का उत्तर निषेध में दिया है । तब गौतम स्वामी फिर प्रश्न करते हैं—भगवान् ! क्या कारण है कि नरक के सब जीवों को एक-सरीखी वेदना नहीं होती ? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फर्माया है—नारकी जीवों में कोई संज्ञिभूत होते हैं और कोई असंज्ञिभूत होते हैं । संज्ञिभूत नारकियों को बहुत वेदना होती है । और असंज्ञिभूत नारकियों को अल्प वेदना होती है ।

यहां प्रश्न उपस्थित होता है कि संज्ञिभूत और असंज्ञिभूत किसे कहते हैं ? इस संबंध में टीकाकार का कथन है कि संज्ञी का अर्थ है-सम्यग्दर्शन अर्थात् शुद्ध भ्रमा । सम्यग्दर्शन

वाले जीव को संक्षी कहते हैं और जिन्हें संक्षीपन प्राप्त हुआ है, उसे संक्षिभूत कहते हैं ।

संक्षिभूत का दूसरा अर्थ है-जो पहले असंक्षी (मिथ्या-दृष्टि) थे और अब संक्षी (सम्यग्दृष्टि) हो गये हैं, अर्थात् जिन्हें सम्यग्दर्शन रूप जन्म मिला है, नरक में ही जो मिथ्यात्व छोड़कर सम्यग्दृष्टि हुए हैं, वे संक्षी कहलाते हैं । संक्षिभूत को बहुत वेदना होती है ।

यह आशंका की जा सकती है कि सम्यग्दृष्टि को कम वेदना होनी चाहिए परन्तु यहां अधिक वेदना बतलाई गई है । इसका क्या कारण है ? इस आशंका का समाधान यह है कि सम्यग्दृष्टि जब नरक में जाता है या नारकी को जब सम्यग्दर्शन हो जाता है तब वह अपने पूर्वकृत कर्मों का विचार करता है और सोचता है:-‘अहो ! मैं कैसे घोर संकट में आ पड़ा हूं ! यह संकट अचानक ही आ गया है । भगवान् अर्हन्त का धर्म सब संकट टालने वाला और परमानन्द देने वाला है, उसका मैं ने आचरण नहीं किया । इसी कारण यह अचिन्तित आपदा आ पड़ी है । मैं विषय रूपी विष के लालच में फंस गया, जो ऊपरी दृष्टि से अच्छे प्रतीत होते थे, मगर जिनका परिणाम अत्यन्त दारुण है ! इन विषयों के जाल में फंस जाने के कारण ही मैंने अर्हन्त भगवन्त के धर्म का आचरण नहीं किया । और अब इस घोर विपदा में पड़ा हूं ’ इस प्रकार का पश्चात्ताप संक्षिभूत नारकी को होता है जिससे उसकी मानसिक वेदना, ग्लानि और शोभ बढ़ जाता है और वह महान् वेदना का पात्र होता है ।

असंक्षिभूत को यह मालूम ही नहीं कि ‘हम अपने कर्म

का फल भोग रहे हैं।' अतएव उन्हें पश्चात्ताप नहीं होता और न मानसिक पीड़ा ही होती है। इसी कारण असंक्षिभूत को कम वेदना होती है।

यह बात लोक व्यवहार में भी देखी जाती है। कोई कुलीन तथा बुद्धिमान् पुरुष, अपने पूर्वजों की सुशिक्षा को जानता हो, उस पर श्रद्धा भी रखता हो, और कुमार्ग से घृणा करता हो, तथापि कभी किसी के वहकाने—फुसलाने में आकर अगर कोई नीति-विरुद्ध काम कर डालता है, और कदाचित् उसे कारागार की सज़ा मिलती है तो उसके पश्चात्ताप की सीमा नहीं रहती। आत्मग्लानि की घोर वेदना से वह बेचैन रहता है। कारागार के कभी-कभी होने वाले कष्टों की अपेक्षा आत्मग्लानि और पश्चात्ताप का कष्ट उसके लिए बहुत अधिक और असह्य हो जाता है। इसके विपरीत जो, अकुलीन और निर्लज्ज हैं, उनके लिए कारागार सुसराल बन जाता है। उन्हें न पश्चात्ताप होता है, न ग्लानि होती है। वे वहाँ मस्त और प्रसन्न रहते हैं। ऐसे लोगों को कारागार में कम कष्ट होता है।

तात्पर्य यह है कि सम्यग्दृष्टि को वेदना अधिक होती है, क्योंकि उसे पश्चात्ताप अधिक होता है और असंक्षिभूत अर्थात् मिथ्यादृष्टि को कम वेदना होती है क्योंकि स्वकृत कर्म को न जानने से उन्हें पश्चात्ताप नहीं होता। यह एक आचार्य का अभिप्राय है।

बहुत से लोगों को अपने विषय में ही यह नहीं मालूम होता है कि—मैं सम्यग्दृष्टि हूँ। इस बात को जानने के लिए अपने आत्मा को अपने ही गज से नापना चाहिए। जिस

का उत्तर यह है कि शास्त्र रखना जीत—आचार है भगवान् ने कहा है कि पाँच आचार्य मिल कर जिस आचार की स्थापना करें और जो लोक एवं लोकोत्तर व्यवहार के विरुद्ध न हो वह जीत-व्यवहार कहलाता है। इस प्रकार से स्थापित किया हुआ आचार प्रामाणिक होता है।

तीसरी क्रिया मायाप्रत्यायिकी है। सरलता का भाव न होना—कुटिलता का होना माया है। क्रोध और मान आदि कषाय माया के उपलक्षण हैं, अतएव इनकी गणना भी माया में ही समझना चाहिए। अतएव काम, क्रोध, मान, मोह आदि माया के अन्तर्गत हैं। काम, क्रोध आदि के निमित्त से मायावृत्तियाँ (मायाप्रत्यायिकी) क्रिया होती हैं।

चौथी क्रिया अप्रत्याख्यान क्रिया है। कर्म बंध के कारण का त्याग करना अप्रत्याख्यान क्रिया है।

कई लोगों का कथन है कि अगर हम जान-बूझकर कोई काम नहीं करते, अनजाने में कोई काम हो जाता है, तब क्रिया कैसे लग सकती है? इसका समाधान यह है कि गफलत के कारण क्रिया लगती है। गफलत न करके, अगर मर्यादा करली जाय तो क्रिया नहीं लगती। गफलत करने वाले को सज़ा मिलती ही है।

पाँचवी मिथ्यादर्शन क्रिया है। अजीव को जीव, जीव को अजीव, धर्म को अधर्म, अधर्म को धर्म, साधु को असाधु और असाधु को साधु समझना, इस प्रकार विपरीत दृष्टि होना मिथ्यादर्शन है। इसके निमित्त से लगने वाली क्रिया, मिथ्यादर्शन क्रिया कहलाती है।

भगवान् कर्मते हैं—सम्यग्दृष्टि को पहली चार क्रियाएँ लगती हैं, मिथ्यादर्शन की क्रिया नहीं लगती है।

यहाँ यह विचारणीय है कि नैरयिकों के पास डल, कुंदाली आदि आरंभ के साधन विद्यमान नहीं हैं, फिर भी उन्हें आरंभिकी क्रिया क्यों लगती है ? उन्हें इस क्रिया के लगने का कारण उपयोग का अभाव है। बाह्य परिग्रह भी उनके पास नहीं है, पर ममता के कारण परिग्रहिकी क्रिया उन्हें लगती है। नरक के जीव घोर दुःख में पड़े हैं। वे माया-चार क्या करते हैं ? मगर वे क्रोध करते हैं, इस कारण मायावृत्तियाँ क्रिया उन्हें लगती है। उन्हें भोग-विलास प्राप्त नहीं हैं और न प्राप्त होने की अनुकूलता ही है, लेकिन उन में मोह विद्यमान है और अप्रत्याख्यानान्तरण कषाय का क्षयो-पशम नहीं हुआ है, इस कारण वह प्रत्याख्यान नहीं कर सकते। प्रत्याख्यान न करने से उन्हें अप्रत्याख्यान क्रिया लगती है।

शंका-शास्त्र में मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग को कर्मबंध का कारण बतलाया है। मगर यहाँ आरंभ आदि को कर्मबंध का कारण कहा है। सो दोनों कथन परस्पर विरोधी क्यों न माने जाएँ ?

समाधान—दोनों कथनों में तात्त्विक विरोध तनिक भी नहीं है। एक जगह योग को कारण कहा है, दूसरी जगह आरम्भ-परिग्रह को कारण बतलाया है। यह दोनों योग के अन्तर्गत है। शेष दोनों ओर तीन-तीन रहे। एक ओर मिथ्यात्व, अविरति और कषाय हैं, दूसरी ओर मिथ्यादर्शन,

अप्रत्याख्यान और माया हैं। इन में लेशमात्र भी विरोध नहीं है। अतएव शब्दों का किञ्चित् भेद होने पर भी वस्तु दोनों जगह एक ही है।

नारकियों में जो सम्यग्दृष्टि हैं उनमें चार क्रियाएँ होती हैं और जो मिथ्यादृष्टि हैं उनमें पाँचों क्रियाएँ होती हैं।

इसके पश्चात् गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं—भगवान् ! सब नारकी समान आयु वाले और साथ ही उत्पन्न हुए हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् फर्मते हैं—नहीं गौतम ! ऐसा नहीं है। तब गौतम स्वामी द्वारा कारण पूछने पर भगवान् उत्तर देते हैं:—

गौतम ! इस अपेक्षा से नारकी चार प्रकार के हैं। कई समान आयु वाले और साथ ही उत्पन्न हुए हैं, जैसे स्थिति दस-दस हजार वर्ष की है और उत्पन्न भी साथ-साथ हुए हैं। यह समान आयु और समोपन्नक कहलाते हैं। दूसरे समान आयु वाले और विषम उत्पत्ति वाले हैं, जैसे आयु तो दस-दस हजार वर्ष की है मगर एक साथ उत्पन्न नहीं हुए हैं। तीसरे विषम आयु वाले और सम उत्पत्ति वाले हैं, जैसे एक साथ उत्पन्न होने वाले दस हजार वर्ष की और एक सागरोपम स्थिति वाले। चौथे विषम आयु वाले और विषम उत्पत्ति वाले हैं, अर्थात् जिनकी आयु भी समान नहीं है और उत्पत्ति भी एकसाथ नहीं हुई है। इस चौभंगी के कारण सब नारकी समान आयु वाले और एक साथ उत्पन्न हुए नहीं हैं।

नारक जीवों के पहले दो भेद किये थे, फिर तीन भेद किये और यहाँ चार भेद किये गये हैं। इसमें पारस्परिक

विरोध की संभावना नहीं करना चाहिये । प्रत्येक वस्तु में अनेक धर्म पाये जाते हैं । उन धर्मों के आधार पर उनकी जाति (समूह) को विभिन्न दृष्टियों से विभिन्न-संख्यक भेदों में बाँटा जा सकता है । जैसे, किसी कक्षा में पाँच विद्यार्थी हों तो उन्हें प्रान्त के भेद से दो भागों में विभक्त किया जा सकता है, उम्र के लिहाज़ से उनके तीन भेद किये जा सकते हैं, वस्त्रों की अपेक्षा चार भेद किये जा सकते हैं और व्यक्तित्व के आधार पर वह पाँच हैं । यही बात यहाँ नारक जीवों के विषय में है ।



असुर कुमार द्वेक-सक सम्मान है ?



मूल पाठ—

प्रश्न—असुरकुमारा एं भंते ! सवे समा-
हारा, समसरीरा ?

उत्तर—जहा नेरइया तहा भाणियव्वा,
नवरं—कम्म—वरण—लेस्साओ परिवरणेअव्वा-
ओ—पुव्वोववरणा महाकम्मतरा, अविमुद्धव-
णतरा, अविमुद्धलेस्सतरा । पच्छोववरणा
पसत्था, सेसं तहेव । एवं जाव थणियकुमारा एं ।

संस्कृत-छाया-प्रश्न—असुर कुमार भगवन् ! सर्वे समा-
हाराः, समशरीराः ?

उत्तर—यथा नैरयिकास्तथा भणितव्याः, नवरम्—कर्म—वर्ण-

लेश्याः परिवर्णाः प्रतय्याः—पूर्वोत्पन्ना महाकर्मतराः, अविशुद्धवर्णतराः, अविशुद्धलेश्यानगाः । पश्चादुत्पन्नाः प्रशस्ताः, शेषं तथैव । एवं यावत् स्तनित-कुमाराः ।

मूलार्थ-प्रश्न—भगवन् ! सब असुरकुमार समान आहार वाले और समान शरीर वाले हैं ?

उत्तर—गौतम ! असुर कुमारों का वर्णन नारकियों के समान कहना चाहिए । विशेषता यह है कि—असुरकुमारों के कर्म, वर्ण और लेश्या नारकियों से विपरीत कहना चाहिए । अर्थात् पूर्वोत्पन्न असुरकुमार महाकर्म वाले, अविशुद्ध वर्ण वाले और अशुद्ध लेश्या वाले हैं । पश्चात् उत्पन्न होने वाले प्रशस्त हैं । शेष पहले के समान समझना । इसी प्रकार स्तनित कुमारों तक जानना चाहिए ।

व्याख्यान—पहले दंडक नारकी के विषय में प्रश्नोत्तर हो चुके । अब असुरकुमारों के दूसरे दंडक के विषय में प्रश्नोत्तर आरंभ होते हैं ।

गौतम स्वामी पूछते हैं कि असुरकुमार जाति की अपेक्षा एक ही हैं तो क्या उन सबका आहार और शरीर भी समान है ? इसके उत्तर में भगवान् ने फर्माया है—गौतम ! ऐसा नहीं है । असुरकुमारों के विषय में भी सभी बातें नैरयिकों के समान ही हैं । अन्तर केवल यह है कि असुरकुमारों का कर्म, वर्ण और लेश्या, नैरयिकों के कर्म, वर्ण और लेश्या से विपरीत समझना ।

भगवान् ने संक्षेप में यह उत्तर दिया है। टीकाकार विषय को स्पष्ट करने के लिये कहते हैं कि यद्यपि असुरकुमारों के आहार का सूत्र नैरयिकों के आहार के सूत्र ही के समान है, तथापि नैरयिकों का आहार किस अपेक्षा से कहा है और असुरकुमारों का किस अपेक्षा से कहा है, यह भेद जानने योग्य है।

नारकी जीवों के समान असुरकुमार भी अल्पशरीर वाले और महाशरीर वाले हैं। महाशरीर वाले असुरकुमार बहुत पुद्गलों का आहार करते हैं, बार-बार आहार करते हैं और बार-बार उच्छ्वास लेते हैं। अल्पशरीरवाले असुरकुमार थोड़े पुद्गलों का आहार करते हैं, बार-बार आहार नहीं करते हैं और बार-बार उच्छ्वास भी नहीं लेते हैं।

असुरकुमारों का स्वाभाविक शरीर जघन्य अंगुल के असंख्यात भाग का और उत्कृष्ट सात हाथ का है। उत्तर वैक्रिय की अपेक्षा जघन्य अंगुल के संख्यातवें भाग और उत्कृष्ट एक लाख योजन है।

असुरकुमारों का आहार मानसिक आहार समझना चाहिए। वे इच्छा करते हैं और उसी समय उनकी भूख मिट जाती है। उनका आहार सामान्यतया मनुष्य के समान नहीं होता। अल्प शरीर वालों का कम आहार और महाशरीर वालों का अधिक आहार अपेक्षाकृत समझना चाहिए।

शंका—कोई-कोई देव मनुष्य की तरह कवलाहार करते हैं और कोई-कोई रोम से भी आहार करते हैं। फिर यहां देवों को मानसिक आहार करने वाला क्यों कहा है ?

समाधान—देवों का प्रधान आहार मानसिक ही होता है। वे विशेष-तया मानसिक आहार ही करते हैं और शास्त्र में विशेष की बात ली जाती है। अतएव देवों को मानसिक आहारी कहा है।

अल्प शरीरी और महाशरीरी का अल्पाहार तथा महा-आहार अपेक्षा से ही है किसी असुरकुमार का शरीर सात हाथ का है और किसी का छह हाथ का। सात हाथ वाले की अपेक्षा छह हाथ वाले का आहार कम है, परन्तु पांच हाथ वाले की अपेक्षा छह हाथ वाले का अधिक है। इस प्रकार का कम-अधिक होना अपेक्षाकृत ही है।

शंका—असुरकुमार का आहार चतुर्थ भक्त का और श्वासोच्छ्वास सात स्तोक में कहा है। फिर यहां बार-बार आहार और उच्छ्वास क्यों कहा ?

समाधान—बार-बार का आहार भी अपेक्षाकृत ही समझना चाहिए। एक असुरकुमार चतुर्थ भक्त अर्थात् एक दिन के अन्तर से आहार करता है और दूसरा हजार वर्ष में एक बार आहार करता है। हजार वर्ष में एक बार आहार करने वाले की अपेक्षा एक दिन के अन्तर से आहार करने वाला बार-बार आहार करता है और पांच दिन में आहार करने वाला कदाचित् आहार करता है। लोक में भी ऐसा ही व्यवहार होता है। यही बात श्वासोच्छ्वास के संबंध में भी समझनी चाहिए। कोई सात स्तोक में श्वास लेता है और कोई एक वक्त में श्वास लेता है। पक्ष में एक बार उच्छ्वास लेने वाले की अपेक्षा सात स्तोक में श्वास लेने वाला बार-बार श्वास लेता है।

अथवा—अल्पशरीरी का अल्पाहार और अल्पश्वास तथा कदाचित् आहार और कदाचित् श्वास अन्तराल की अपेक्षा से कहा है अल्प शरीर वालों के आहार और श्वासोच्छ्वास में अन्तराल बहुत पड़ जाता है, इस अपेक्षा में यह कथन किया है।

अन्तराल का अर्थ है—बीच या आंतरा । एक आहार और दूसरे आहार के बीच का समय अन्तराल, आंतरा व्यवधान या अन्तर कहलाता है ।

यद्यपि महाशरीर वाले के आहार में भी अन्तराल है—एक दिन का अन्तर पड़ता है, परन्तु वह अन्तर अत्यल्प है, इसलिए नगण्य है । नगण्य होने के कारण ही अल्प शरीरी की अपेक्षा महाशरीरी का आहार अभीक्ष्ण आहार कहा है । यह बात आगम से भी सिद्ध है कि महाशरीर वाले का आहार बार-बार होता है और अल्पशरीर वाले का आहार, अन्तराल बढ़ा होने से बार-बार नहीं होता । यथा—प्रथम देवलोक के देव का शरीर सात हाथ का है । उनका आहार दो हजार वर्ष के अन्तर से और उच्छ्वास दो पक्ष के अन्तर से होता है । अनुत्तर विमान के देव का शरीर एक हाथ का है और उनका आहार तैत्तीस हजार वर्ष के अन्तर से तथा श्वासोच्छ्वास तैत्तीस पक्ष के अन्तर से होता है । इस अपेक्षा से, प्रथम देवलोक के देवों का शरीर बड़ा है इसलिए वे आहार और उच्छ्वास भी बार-बार लेते हैं । इनकी अपेक्षा अनुत्तर विमान के देवों का शरीर छोटा है, इस लिए वे आहार और उच्छ्वास भी अल्प लेते हैं । यही बात असुरकुमारों के विषय में है ।

अथवा—पर्याप्त अवस्था में महाशरीर वाले असुरकुमार लोमाहार की अपेक्षा बार-बार आहार लेते हैं और अपर्याप्त

प्रश्न-पुढविक्काइया णं भंते ! सव्वे सम-
किरिया ?

उत्तर-हंता, समकिरिया ।

प्रश्न-से केणट्टेणं ?

उत्तर-गोयमा ! पुढविक्काइया सव्वे
मायी मिच्छादिट्ठी । ताणं णिअइआओ पंच
किरियाओ कज्जंति, तंजहा-आरंभिया जाव
मिच्छादंसणत्तिया से त्तेणट्टेणं० । समाउआ,
समोववन्नगा जहा नेरइआ तहा भाणियव्वा ।

संस्कृत-छाया—पृथिवी कायिकानामाहार—कर्म वर्ण—लेख्या
यथा नैरायिकाणाम् ।

प्रश्न—पृथिवीकायिका भगवन् ! सर्वे समवेदनाः ?

उत्तर—हन्त, समवेदनाः ।

प्रश्न—तत्तेनार्येन भगवन् ! समवेदनाः ?

उत्तर—गौतम ! पृथिवीकायिकाः सर्वेऽसंज्ञिनोऽसंज्ञिभूता
अनियतेन वेदनां वेदयन्त, तत्तेनार्येन० ।

प्रश्न—पृथिवीकायिका भगवन् ! सर्वे समक्रियाः ?

उत्तर—हन्त, समक्रियाः ।

प्रश्न—तत्तेनार्थेन ?

उत्तर—गौतम ! पृथिवीकायिकाः सर्वे मायिनो मिथ्यादृष्टयः ।
तैर्नियतिकाः पञ्च क्रियाः क्रियन्ते, तद्यथा-आरम्भिकी यावद् मिथ्या-
दर्शनप्रत्यया । तत्तेनार्थेन० । समापुष्काः, समोपपन्नाः, यथा नैर-
यिकास्तथा भणितव्याः ।

मूलार्थ—पृथिवीकाय के जीवों का आहार, कर्म, वर्ण और लेश्या नारकियों के समान समझना चाहिए ।

प्रश्न—भगवन् ! पृथिवीकायिक सब समान वेदना वाले हैं ?

उत्तर—हाँ गौतम ! समान वेदना वाले हैं ।

प्रश्न भगवन् ! किस कारण से समान वेदना वाले हैं ? (ऐसा कहा जाता है)

उत्तर—गौतम ! सब पृथिवीकायिक जीव असंज्ञी हैं और असंज्ञिभूत वेदना को अनिर्धारित रूप से वेदते हैं, इस कारण हे गौतम ! ऐसा पूर्वोक्त कहा गया है ।

श्रावक को आरंभिकी, पारिवर्हिकी और भावाप्रत्यया क्रिया लगती है । तेरहपंथी सम्प्रदाय की मान्यता है कि श्रावक का लेन देन खान-पान आदि सब एकान्त अव्रत में है और अव्रत पाप में है । अतएव श्रावक का लेन-देन, खाना-पीना, आदि सब एकान्त पापरूप है । इसीलिए श्रावक को भोजन आदि देना एकान्त पाप है । उनके कथनानुसार सिर्फ तेरहपंथी साधुओं को आहार देने से व्रत निपजता है । तेरहपंथी साधुओं के सिवाय और सबको देना पाप है ।

इस प्रकार अव्रत का नाम लेकर वे श्रावक के सभी कामों में एकान्त पाप कहते हैं मगर उनसे पूछना चाहिए कि अव्रती को पुण्य होता है या नहीं ? और वह स्वर्ग जाता है या नहीं ? इसके उत्तर में वे कहते हैं—अव्रती स्वर्ग तो जाते हैं मगर अव्रत सेवन से नहीं, वरन् वह जो तप करता है, अकाम कष्ट सहन करता है और वस्तुओं का त्याग करता है इस कारण स्वर्ग जाता है । अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि उसने जो तप किया है, कष्ट सहन किया है, यह सब व्रत में समझा जाय या अव्रत में ? और वह किस चौकड़ी का ज्योपशम करता है ? इन प्रश्नों का उनसे कुछ भी उत्तर नहीं बन पड़ता । अगर उसका कष्ट सहन भी अव्रत में है तो अव्रत से स्वर्ग नहीं मिलता, अतएव उसे स्वर्ग भी नहीं मिलना चाहिए ।

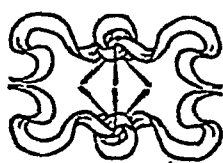
तेरहपंथी भाई श्रावक को अव्रत कैसे लगाते हैं, यह समझ

में ही नहीं आता। समझ में आने योग्य बात भी तो नहीं है। भगवान् ने संयतासंयत तिर्यच पञ्चेन्द्रिय को भी तीन ही क्रियाएँ बतलाई हैं, मगर तेरहपन्थी मनुष्य श्रावक को भी अव्रत की क्रिया लगाते हैं। अगर यह कहा जाय कि श्रावक स्वस्त्री का आगार रखता है, इस लिए वह अव्रती है, तो फिर भगवान् ने श्रावक को तीन ही क्रियाएँ क्यों बतलाई हैं? भगवान् ने उसे अव्रत की क्रिया क्यों नहीं बतलाई? कदाचित् वे यह कहें कि श्रावक में पूर्ण रूप से अव्रत नहीं पाया जाता, इस लिए अव्रत की क्रिया नहीं बतलाई गई है। उसमें तीन क्रियाएँ पूरी हैं, चौथी अधूरी है। श्रावक ने जितना त्याग किया है उतना व्रत में है, अतएव उसे चौथी क्रिया नहीं बतलाई। इस पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि श्रावक ने अप्रत्यास्थानावरण का क्षयोपक्षम किया है, वह क्या कहलाया? श्रावक में एक देश व्रत होने से अगर अव्रत की क्रिया नहीं लगती तो माया की क्रिया भी नहीं लगनी चाहिए क्योंकि श्रावक में माया भी एक देश से ही है। मगर माया की क्रिया तो दसवें गुणस्थान तक लगना कहा है। किञ्चित् लोभ रहने से भी क्रिया बतलाई है, फिर एक देश से चौथी क्रिया लगने पर भी श्रावक को अव्रत क्रिया क्यों नहीं बताई?

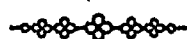
तेरहपन्थी पूछते हैं—श्रावक ने जितने अंशों में त्याग किया है, उतने अंशों में व्रत है, मगर जितने अंशों में त्याग नहीं किया, उतने अंश किसमें गिनने चाहिए? इसका उत्तर यह है कि त्यागने से जो शेष रह गया है वह परिग्रह में शामिल है, क्योंकि श्रावक में परिग्रह की क्रिया विद्यमान है। इस विषय का विशेष विचार 'सद्धर्ममण्डन' नामक ग्रन्थ में किया गया है।

तात्पर्य यह है कि अनन्तानुबन्धी चौकड़ी का उदय होने पर पांच, अप्रत्याख्यानावरण चौकड़ी के उदय में चार, प्रत्याख्यान चौकड़ी की विद्यमानता में तीन क्रियाएँ लगती हैं। जब कपाय की निवृत्ति हो जाती है तब क्रिया की भी निवृत्ति हो जाती है।

गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं भगवन् ! तिर्यंच पञ्चेन्द्रिय विवेकहीन और विकल माने जाते हैं, इसलिये क्या सब पञ्चेन्द्रिय तिर्यंच जीव समान क्रिया वाले हैं ? वे सब समान कर्म-बंध करते हैं या कम-ज्यादा ? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फर्माया है—हे गौतम ! सब पञ्चेन्द्रिय तिर्यंच समान क्रिया वाले नहीं हैं, क्योंकि उनके तीन भेद हैं—उनमें कोई सम्यग्दृष्टि हैं, कोई मिथ्यादृष्टि हैं, कोई मिश्रदृष्टि हैं। सम्यग्दृष्टि भी दो प्रकार के हैं, कोई संयतासंयत हैं और कोई असंयत हैं। संयतासंयत के पूर्वोक्त तीन, असंयत सम्यग्दृष्टि के चार तथा मिथ्यादृष्टि और मिश्रदृष्टि के पाँचों क्रियाएँ लगती हैं।



मनुष्य का वर्णन ।



मूलपाठ—

मणुस्सा जहा नेरइया, नाणत्तं-जे महां-
सरीरां ते बहुतराए पाग्गले आहारेंति, ते आ-
हच्च आहारेंति । जे अप्पसरीरा ते अप्पतराए
पाग्गले आहारेंति । अभिक्खणं २ आहारेंति ।
सेसं जहा णेरइयाणं जाव-वेयणा ।

प्रश्न-मणुस्सा एं भंते ! सबे समकिरिया ?

उत्तर-गोयमा ! एणो इण्ढे समट्ठे ।

प्रश्न-से केण्ढेणं ?

उत्तर-गोयमा ! मणुस्सा तिविहा पणत्ता,

तं जहा-सम्मदिट्ठी, मिच्छादिट्ठी, सम्मामिच्छा-
दिट्ठी, तत्थ णं जे ते सम्मदिट्ठी ते तिविहा
पणत्ता, तं जहा-संजया, संजयासंजया, अ-
संजया । तत्थ एं जे ते संजया ते दुविहा पन्न-
त्ता-सरागसंजया य, वीअरागसंजया य । तत्थ
णं जे ते वीअरागसंजया ते णं अकिरिया ।
तत्थ णं जे ते सरागसंजया ते दुविहा पन्नत्ता,
तं जहा-पमत्तसंजया य, अप्पमत्तसंजया य ।
तत्थ णं जे ते अप्पमत्तसंजया तेसिं एं एगा-
मायावत्तिया किरिया कज्जइ । तत्थ णं जे ते
पमत्तसंजया तेसिं णं दो किरियाओ कज्जंति,
तं जहा-आरंभिया, मायावत्तिआ । तत्थ एं जे
ते संजयासंजया तेसिं णं आइल्लाओ तिरिण
किरियाओ कज्जंति, तं जहा-आरंभिया, परि-
ग्गहिया, मायावत्तिआ । असंजयाणं चत्तारि

किरियाओ कज्जंति-आरंभिया, परिग्गहिया,
मायावत्तिया, अपच्चक्खाणपच्चया । मिच्छा-
दिट्ठीणं पंच-आरंभिया, परिग्गहिया, मायाव-
त्तिया, अपच्चक्खाणपच्चया, मिच्छादंसणवत्तिया ।
सम्मामिच्छादिट्ठीणं पंच ।

संस्कृत-छाया—मनुष्या यथा नैरयिक्ताः, नानात्वं-ये महा-
शरीरास्ते बहुतरान् पुद्गलानाहारयन्ति, ते आहृत्याऽऽहारयन्ति । येऽल्प-
शरीरास्ते अल्पतरान् पुद्गलानाहारयन्ति । अभीक्ष्णं २ आहारयन्ति । शेषं
यथा नैरयिकानाम्, यावद् वेदना ।

अथ-मनुष्या भगवन् ! सर्वे समक्रियाः ?

उत्तर-गौतम् ! नायमर्थः समर्थः ।

अथ-तत्केनार्थेन ?

उत्तर-गौतम ! मनुष्यास्त्रिविधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा-सम्यग्दृष्टिः,
मिथ्यादृष्टिः, सम्यग्-मिथ्यादृष्टिः । तत्र ये ते सम्यग्दृष्टयस्ते त्रिविधाः
प्रज्ञप्ताः, तद्यथा-संयताः, संयताऽसंयताः, असंयताः । तत्र ये ते संय-
तास्ते द्विविधाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा-सरागसंयताः, वीतरागसंयताश्च ।

तत्र ये ते वीतरागसंयतास्तेऽक्रियाः । तत्र ये ते सरागसंयतास्ते
द्विविधाः प्रज्ञाः तद्यथा- प्रमत्तसंयताश्च, अप्रमत्तसंयताश्च । तत्र ये ते
अप्रमत्तसंयतास्तैरेका मायाप्रत्यया क्रियां क्रियते । तत्र ये ते प्रमत्त-
संयतास्तैर्द्वे क्रिये क्रियते, तद्यथा-आरम्भिकी, मायाप्रत्यया । तत्र ये ते
संयतासंयतास्तैरद्यास्तिस्रः क्रियाः क्रियन्ते, तद्यथा-आरम्भिकी, पारि-
ग्रहिकी, मायाप्रत्यया । असंयतैः चतस्रः क्रियाः क्रियन्ते, आरम्भिकी,
पारिग्रहिकी, मायाप्रत्यया, अप्रत्याख्यानप्रत्यया । मिथ्यादृष्टीनां पञ्च-
आरम्भिकी, पारिग्रहिकी, मायाप्रत्यया, अप्रत्याख्यानप्रत्यया, मिथ्या-
दर्शनप्रत्यया । सम्यग्-मिथ्यादृष्टीनां पञ्च ।

मूलार्थ—मनुष्यों का वर्णन नारकियों के समान
समझना चाहिए । उनमें भेद यह है—जो महाशरीर वाले
हैं वे बहुततर पुद्गलों का आहार करते हैं और वे कभी कभी
आहार करते हैं । जो अल्प शरीर वाले हैं वे अल्पतर
पुद्गलों का आहार करते हैं और बार-बार आहार करते हैं ।
शेष सब नारकियों के समान वेदना पर्यन्त समझना ।

अप्र—भगवन् ! सब मनुष्य समान क्रिया वाले हैं ?

उत्तर—गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है ।

प्रश्न—सो किस कारण भगवन् ?

उत्तर—गौतम! मनुष्य तीन प्रकार के हैं। वह इस प्रकार-सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि और सम्यग्-मिथ्यादृष्टि। उनमें जो सम्यग्दृष्टि हैं वे तीन प्रकार के कहे गये हैं, वे इस प्रकार-संयत, संयतासंयत और असंयत। उनमें जो संयत हैं वे दो प्रकार के कहे गये हैं-सराग संयत और वीतराग संयत। उनमें जो वीतराग संयत हैं वे क्रिया रहित हैं। उनमें जो सराग संयत हैं, वे दो प्रकार के कहे गये हैं, वे इस प्रकार-प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत। उनमें जो अप्रमत्तसंयत हैं उन्हें एक मायावत्तिया क्रिया लगती है। उनमें जो प्रमत्तसंयत हैं उन्हें दो क्रियाएँ लगती हैं, वह इस प्रकार-आरम्भिया और मायावत्तिया। उनमें जो संयतासंयत हैं उन्हें आदि की तीन क्रियाएँ होती हैं। वह इस प्रकार-आरम्भिया, पारिग्रहिकी और मायावत्तिया। असंयत मनुष्य चार क्रियाएँ करते हैं:-आरम्भिया, परिग्रहिया, मायावत्तिया और अपञ्चकवाणक्रिया। मिथ्यादृष्टियों को पांच क्रियाएँ होती हैं-आरम्भिया, परिग्रहिया, मायावत्तिया, अपञ्चकवाणक्रिया और मिथ्यादर्शनप्रत्यया। मिथ्यादृष्टियों को भी पांच क्रियाएँ होती हैं।

व्याख्यान—गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन् ! सब मनुष्य समान आहार करने वाले हैं? इसके उत्तर में भगवान् ने फर्माया—नारकियों के समान ही सारा वर्णन समझ लो। जो विशेषता है, वह इस प्रकार है:—

महाशरीर वाले मनुष्य बहुत पुद्गलों का आहार करते हैं, परन्तु कदाचित् आहार करते हैं । महाशरीरी नारकी बार-बार आहार करते हैं लेकिन महाशरीर मनुष्य कभी-कभी आहार करते हैं । यहां महा शरीर वाले मनुष्यों से देवकुरु और उत्तरकुरु के भोग-भूमिज मनुष्य लेने चाहिए । उनका शरीर तीन गाड का होता है और आहार अष्टम भक्त होता है अर्थात् तीन दिन में एक बार आहार करते हैं । इसलिए उन्हें कदाचित् आहार करने वाला कहा है ।

अल्प शरीर वाले मनुष्य थोड़े पुद्गलों का आहार करते हैं, परन्तु बार-बार करते हैं ।

शंका—नरक के जीव जिन पुद्गलों का आहार करते हैं वे निस्तार और स्थूल होते हैं, अतएव महाशरीर नारकी को बहुत पुद्गलों का आहार करना पड़ता है, मगर देवकुरु और उत्तरकुरु के मनुष्य सारयुक्त पुद्गलों का आहार करते हैं, अतएव उन्हें अधिक पुद्गलों की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए । तथापि यहाँ बहुत पुद्गलों का आहार बतलाया गया है ? जैसे पाँच सौ तोले की मिठास रखने वाली एक तोला शकर में बहुत पुद्गल रहते हैं, उसी प्रकार देवकुरु और उत्तरकुरु के जुगलिये जो आहार करते हैं, उसमें सारभूत पुद्गल अधिक हैं । इसलिए उन्हें अल्पाहारी कहना चाहिए ।

समाधान—जिस प्रकार एक तोला चांदी की अपेक्षा एक तोला सोने में अधिक पुद्गल होते हैं, दोनों का तोल बराबर होने पर भी दोनों के पुद्गलों में न्यूनताधिकता है, और यही कारण है कि एक तोला सोना जितना फल सकता है—एक तोला सोने से जितने वर्त्तनों पर सुलझा किया जा सकता

है, उतनी चांदी नहीं फैलती—चांदी से उतने बर्तनों पर मुलम्मा नहीं किया जा सकता । इसी प्रकार सारभूत आहार में जितने पुद्गल होते हैं, निस्सार आहार में उतने नहीं होते । तात्पर्य यह है कि देवकुरु-उत्तरकुरु के मनुष्यों का आहार दीखने में कम होता है मगर उसमें अल्पशरीरी के आहार की अपेक्षा अधिक पुद्गल होते हैं । यही कारण है कि उन्हें बहुत पुद्गलों का आहार करने वाला कहा गया है ।

अल्पशरीरी मनुष्य बार-बार आहार करता है, यह बात प्रत्यक्ष देखी जाती है, जैसे कि बालक बार-बार आहार करता है ।

तीन गव्यूति (गाउ) की अवगाहना वाले महाशरीरी मनुष्य भी मनुष्य कहलाते हैं और मल-मूत्र में उत्पन्न होने वाला, अंगुल के असंख्यातवें भाग की अवगाहना वाला मनुष्य भी मनुष्य कहलाता है । भगवान् ने ऐसे मनुष्य कीटों के आहार पर भी विचार किया है ।

कर्म और वर्ण, पहले उत्पन्न हुए मनुष्यों के विशुद्ध और पीछे उत्पन्न होने वालों के अविशुद्ध होते हैं । यद्यपि पहले उत्पन्न होने वाले वृद्ध मनुष्य के कर्म और वर्ण भी अशुद्ध देखे जाते हैं, तथापि इस कथन में कोई बाधा नहीं आती, क्योंकि यह कथन सापेक्ष है ।

इसके पश्चात् क्रिया का प्रश्न आता है । भगवान् ने फर्माया है कि मनुष्य सम्यग्दाष्टि, मिथ्यादाष्टि और मिश्रदाष्टि के भेद से तीन प्रकार के हैं । सम्यग्दाष्टियों में भी तीन भेद हैं

और उनमें भी अवान्तर भेद हैं। उनमें भिन्न-भिन्न संख्या वाली क्रियाएँ होती हैं, जिनका कथन ऊपर आ चुका है।

जिसकी श्रद्धा यथार्थ हो वह सम्यग्दृष्टि कहलाता है। विपरीत श्रद्धा अर्थात् अनास्तिक श्रद्धा वाला मिथ्यादृष्टि कहलाता है। जिसकी श्रद्धा में वास्तविकता और अवास्तविकता का सम्मिश्रण हो वह मिश्रदृष्टि है। मिश्रदृष्टि, मिथ्यादृष्टि के ही समान है। जैसे अपरीक्षक काँच और हीरे को समान समझता है, मलयपर्वत की भीलनी चन्दन और साधारण लकड़ी को समान समझ कर जलाती है, उसे साधारण लकड़ी और चन्दन की लकड़ी का विवेक नहीं है, उसी प्रकार यथार्थ और अयथार्थ के विवेक से शून्य मिश्रदृष्टि वाला पुरुष होता है।

जो संयम का पालन करता है, चारित्र्य रूपी यतना का विवेक रखता है वह संयत कहलाता है और जिसमें चारित्र्य की क्रिया नहीं है वह असंयत है। जो देशचारित्र्य की आराधना करता है, जिसके अणुव्रत हैं पर महाव्रत नहीं हैं, वह संयता-संयत या श्रावक कहलाता है।

जो संयम का पालन करता है किन्तु जिसका कषाय क्षीण या उपशान्त नहीं हुआ है वह मराम संयमी कहलाता है। प्रश्न किया जा सकता है कि जिसमें क्रोध और मान विद्यमान है, वह साधु कैसे हो सकता है? इसका उत्तर यह है कि शास्त्रकारों ने क्रोध आदि प्रत्येक कषाय के चार-चार भेद बतलाये हैं। अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान के क्रोध, मान आदि जब तक विद्यमान रहते हैं तब

तक साधु अवस्था प्रकट नहीं हो सकती। यह बारह कपाय सकल संयम के विरोधी हैं। लेकिन संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ में इतनी तीव्रता नहीं है। इनसे सकल संयम का घात नहीं होता। संज्वलन कपाय यथाव्याप्त चारित्र्य का घातक है, मगर सामायिक चारित्र्य का घातक नहीं है। अतएव संज्वलन कपाय की विद्यमानता में भी जो सकल संयम का पालन करते हैं वे सराग संयमी कहलाते हैं।

जिनके कपाय का सर्वथा अभाव हो गया है वह वीतराग संयत कहलाते हैं। वह भी दो प्रकार के हैं:—क्षीण कपायी और उपशान्त कपायी। जैसे अग्नि को राख से ढँक कर दबा दिया जाता है उसी प्रकार कर्म-प्रकृति की शक्ति को दबा देना उपशम कहलाता है और अग्नि को विलकुल बुझा देने के समान कर्मों को नष्ट कर देना क्षय कहलाता है। अतएव गुणस्थान वाले उपशान्त कपायी वीतराग कहलाते हैं और बारहवें तथा आगे के गुणस्थान वाले क्षीणकपायी वीतराग कहलाते हैं।

जो महापुरुष कपायों से सर्वथा मुक्त हो गये हैं, वे क्रिया से अर्थान्, कर्मयन्त्र की कारणभूत क्रिया से रहित हैं। यद्यपि संयोगी अवस्था में योग की प्रवृत्ति से होने वाली ईर्ष्यापथिक क्रिया उल्लेख विद्यमान है पर वह क्रिया नहीं के बराबर है और इन क्रियाओं में उसकी गणना नहीं है।

सराग संयमी प्रमत्त और अप्रमत्त के भेद से दो प्रकार के हैं। अप्रमत्त संयमी के सिर्फ एक मायाप्रत्यया क्रिया होती है, क्योंकि उनमें अभी कपाय अवशिष्ट है। इसीलिए पूर्वा-

चार्यों ने दसवें गुणस्थान तक नौ योगों की प्रवृत्ति बतलाई है। नौ योगों की प्रवृत्ति है, इस लिए वहां यह क्रिया है। जब धर्म के विषय में अपवाद होता है, अर्थात् मिथ्यावाद द्वारा धर्म पर कलंक लगाया जाता है तब अप्रमत्त संयत को भी ऐसी क्रिया करनी पड़ती है, जिससे कि धर्म पर लगाया गया कलंक दूर हो जाय। उदाहरणार्थ एक बार श्रेणिक राजा ने चेलना रानी को जैनधर्म के प्रति घृणा उत्पन्न कराने के लिए एक साधु और एक वेश्या को एक ही मकान में बंद कर दिया था। ऐसा करके श्रेणिक, चेलना रानी के हृदय में जैन साधुओं के विषय में घृणा उत्पन्न कर देना चाहता था। साधुको धर्म का, यह उपहास सह्य नहीं था। वह धर्म को इस निन्दा से बचाना चाहता था। साधारण मनुष्य की अपेक्षा राजा की बात का प्रभाव अधिक पड़ता है, इसलिए ऐसा करना और भी आवश्यक हो गया था।

मुनि सोच—विचार में पड़े थे कल हल्ला मच जायगा और धर्म की बड़ी अप्रसिद्धा होगी। मैं घर—घर कैसे कहता फिरेगा कि मैं निर्दोष हूँ और राजा ने बलात्कार पूर्वक मुझे बंद कर दिया था। इसके सिवाय, लोग स्वभावतः आशंकाशील होते हैं। फिर राजा की बात के आगे मेरी कौन सुनेगा ? इससे अच्छा तो यहां होगा कि मैं राजा का ही गुरु-बौद्ध साधु होजाऊँ। इससे सारा झगड़ा ही खत्म हो जायगा। ऐसा विचार करके मुनि ने अपनी लाब्धि से राजा के गुरु का ही भेष बना लिया। वेश्या मुनि को, राजा के गुरु के भेष में देखकर घबराने लगी। वह मुनि से क्षमा-याचना करने लगी।

चोली-में राजा की आज्ञा से आई हैं। मुझे क्षमा कीजिए। मुनि ने कहा—घबराने का क्या काम है ! मगर मुझसे दूर ही रहो।

प्रभात हुआ। राजा ने खेलना पर ताने कसने शुरू किये। वह बोला तुम्हारे गुरु बड़े ढोंगी होते हैं। ऊपर से बड़े त्यागि बनते हैं पर वेश्यागमन तक का त्याग नहीं करते !

रानी दृढ़ श्रद्धा वाली थी। उसने कहा—महाराज, यह असंभव है। मेरे गुरु ऐसे कदापि नहीं हो सकते, आपके गुरु चाहे ऐसे भले ही हो।

अन्त में राजा और रानी-दोनों उस मकान पर आये। यात सारे नगर में फैल गई थी। हजारों—लाखों आदिमियों की भीड़ इकट्ठी हो गई। राजा ने उस मकान के किवाड़ खुलवाये तो उसमें वेश्या के साथ राजा के ही गुरु निकले। राजा की नज़र जब उस पर पड़ी तो वह भौंचक्का रह गया। यह क्या मामला है। यह तो उल्टी बलाय सिर पड़ी। अब रानी खेलना को अवसर मिला। वह राजा की हँसी करने लगी और राजा लज्जित होकर पंछुताने लगा।

आशय यह है कि धर्म पर जब कलंक आता हो तो मुनि को ऐसा करना पड़ता है। व्यवहारसूत्र में उल्लेख है कि धर्म पर अपवाद आने का अवसर उपस्थित होने पर साधु लिंग पलट कर अन्यलिंगी का भेष धारण कर ले। यद्यपि ऐसा करना माया ही है, तथापि विशेष परिस्थिति में उसका आचरण करना पड़ता है, और वह भी दूसरे को धोखा देने के लिए नहीं, वरन् प्रशस्त भाव से, धर्म की रक्षा और प्रतिष्ठा

के लिए। इस प्रकार अप्रमत्त सरागी को भी मायाप्रत्यया क्रिया लगती है।

वैक्रिय लब्धि फोड़कर वेश बनाना प्रमत्त संयत में ही संभव है, किन्तु वेय परिवर्तन अप्रमत्त संयत में भी संभव है।*

प्रमत्त सरागः संयमी के दो क्रियाएँ हैं आरंभिया और मायावत्तिया। यहाँ पर प्रश्न किया जा सकता है कि प्रमत्त संयमी ने घर-द्वार सब त्याग किया है, फिर उसे आरंभिया क्रिया क्यों लगती है? इसका उत्तर यह है कि उसमें प्रमाद का अस्तित्व है और प्रमाद आरम्भरूप ही है। जहाँ गफलत आई कि आरंभ हुआ। इसी कारण प्रमादी संयमी को आरंभिया क्रिया यहाँ बतलाई गई है।

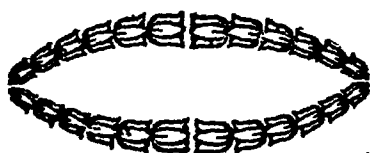
प्रमत्त संयमी को आरंभिया तो लगती ही है, इसलिए भोजन बनाने आदि का आरंभ करने में भी क्या शानि है? इस प्रकार का तर्क करना अनुचित है, क्योंकि सर्व विराति के साथ जिस आरंभ का परित्याग किया गया है, वह आरंभ करने से सर्व विराति का भंग हो जाता है। असावधानी से चलने-फिरने के कारण आरंभिया क्रिया लगती है। अगर साधु होकर भी आरंभ की स्थापना की जाय, आरंभ करने में शानि नहीं है, इस प्रकार की प्ररूपणा की जाय तो व्रतों के साथ सम्पत्त्व भी नष्ट हो जाता है। अतएव प्रमत्त संयत को

* शुद्धमस्थ अप्रमत्तगुणस्थानों का काल बहुत ही कम है—इस लिये ऐसी क्रियाएँ प्रमत्तगुणस्थान में ही की जाती हैं फिर भी शुभयोग प्रत्यय होती है तथा वह क्रिया अप्रमत्तगुणस्थानों में भी कायम रह सकती है। प्रकाशक

आरंभ से मुक्त होना चाहिये, तथापि गफलत होने पर उसे आरंभिया क्रिया लगती है।

भगवान् ने प्रमाद के योग से लगने वाली क्रिया की भी गणना की है, फिर तेरहपंथियों के कथनानुसार अगर श्रावक में देश से भी अव्रत होता तो श्रावक में चार क्रियाएँ वतझाई गई होती। प्रमत्त संयत जो आरंभ करते हैं, वह परिग्रह रहित है। वे ममत्व करके आरंभ नहीं करते हैं। ममत्व करके आरंभ करने में परिग्रह की क्रिया लगती है।

संयतासंयत अर्थात् श्रावक के तीन क्रियाएँ होती हैं। असंयत सम्यग्दृष्टि के चार होती हैं और मिथ्यादृष्टि तथा मिश्रदृष्टि के पाँचों ही होती हैं।



देवों का वर्णन



मूलपाठ—

वाण्यन्तर-जोतिस-वेमाणिया जहा असुरकुमारा, नवरं वेयणाए णाणत्तं-मायमि-
च्छादिट्ठा उववणगा य अप्पवेयणतरा. अमा-
यिसम्मदिट्ठी उववन्नगा य महावेयणतरागा
भाणियव्वा जोतिस वेमाणिया ।

संस्कृत-छाया—वानव्यन्तर-ज्योतिष-वैमानिका यथा असुर-
कुमाराः, नवरम्-वेदनायां नानात्वं, मायिमिथ्यादृष्ट्युपपन्नकाश्च
अल्पवेदनाकाः, अमायिसम्यग्दृष्ट्युपपन्नकाश्च महावेदनाका भणितव्या
ज्योतिष वैमानिकाः ।

मूलार्थ—यहाँ वाण्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक,
यह सब असुरकुमारों के समान कहने चाहिए । इन्हीं वेदना
में भिन्नता है—ज्योतिषी और वैमानिकों में जो मायी

मिथ्यादृष्टि उत्पन्न हुए हों वे अल्प वेदना वाले हैं और जो अमायी सम्यग्दृष्टि उत्पन्न हुए हों वह महा वेदना वाले होते हैं, ऐसा कहना चाहिए ।

व्याख्यान—यहाँ वाण-व्यन्तर, ज्योतिषिक और वैमानिक का वर्णन असुरकुमार देवों के समान ही बतलाया गया है, इनमें वेदना का भेद है ।

वाण-व्यन्तर, ज्योतिषिक और वैमानिक दो प्रकार के उत्पन्न होते हैं—एक मायी मिथ्यादृष्टि, दूसरे अमायी सम्यग्दृष्टि । इनके शरीर का परिमाण अवगाहना के अनुसार भिन्न-भिन्न है । इनमें जो अल्पशरीरी है उनका आहार अल्प है और जो महाशरीरी हैं वे अधिक पुद्गलों का आहार करते हैं ।

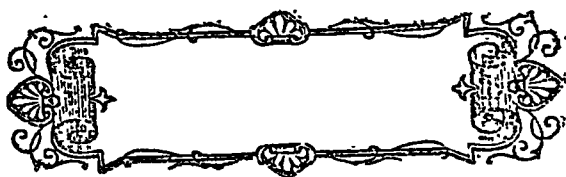
वेदना के विषय में असुरकुमारों के लिए यह कहा गया है कि जो संशी हैं उन्हें महावेदना और असंशी भूतों को अल्प वेदना होती है । यद्यपि व्यन्तरों का पाठ शास्त्रकार ने अलग कर दिया है किन्तु असुरकुमार और व्यन्तर के वर्णन में कोई अन्तर नहीं है, क्योंकि व्यन्तरों में भी असंक्षिभूत जीव उत्पन्न हो सकते हैं । व्यन्तरों में असंशी जीव उत्पन्न होते हैं, यह बात इसी सूत्र में आगे कही जायगी । यहाँ यह पाठ आया है—

‘असंक्षिणं जहणं भवणवासीसु, उक्कोसेणं वाणसंतरेसु ।’

अर्थात्—असंक्षी जीव अगर देवगति में उत्पन्न हों तो जन्मभवनवासियों में और उत्कृष्ट वाण-व्यन्तरों में उत्पन्न होते हैं ।

श्रीभगवती सूत्र

ज्योतिष्क और वैमानिकों में असंखी जीव उत्पन्न नहीं होते। इस लिए इनकी वेदना असुरकुमारों की तरह नहीं कहनी चाहिए। ज्योतिषी देवों के दो भेद हैं—मायी-मिथ्या-दृष्टि-उपपन्नक और अमायी-सम्यग्दृष्टि-उपपन्नक। मिथ्यादृष्टि को कम वेदना होती है और सम्यग्दृष्टि को अधिक वेदना होती है। मगर सम्यग्दृष्टि की वेदना शुभ रूप है, शातारूप है अशुभ रूप नहीं है।



लेखका काले जीवों का प्रश्न—



मूलपाठ—

प्रश्न—सलेस्सा एं भंते ! नेरइया सव्वे
समाहारगा ?

उत्तर—ओहियाणं, सलेस्साणं, सुक्कले-
स्साणं; एएसिं णं तिण्हो एक्को गमो । कण्हले-
स्साणं, नीललेस्साणं पि एक्को गमो । नवरं
वेदणाए-मायिमिच्छदिट्ठी-उववन्नगा य, अमा-
यिसम्मदिट्ठी-उववन्नगा य भाणियवा । मणुस्सा
किरियासु सराग-वीअराग-पमत्ताऽपमत्ता न
भाणियवा । काउलेस्साणं पि एसेव गमो ।
नवरं-नेरइया जहा ओहिए दंडए तहा भाणि-
यवा । तेउलेस्सा, पम्हलेस्सा जत्थ अतिथि जहा

ओहिओ दंडओ तहा भाणियव्वा । नवरं-माणुस्सा
सरागा, वीअरागा न भाणियव्वा । गाहाः—

दुक्खा-उए-उदिणो आहारे कम्म-वण्ण-लेस्सा
य । समवेयण समकिरिया समाउए चेव बोधव्वा॥

संस्कृत-छाया—प्रश्न—संलेश्या भगवन् नैराधिकाः सर्वे
समाहारकाः ?

उत्तर—औधिकानां, संलेश्यानां, शुक्ललेश्यानां, एतेषां त्रयणा-
मेको गमः, कृणलेश्यानां, नीललेश्यानामपि एको गमः । नवरम्-
वेदनायां मायिमिध्यादृष्युपपन्नकाश्च, अमापिसम्यग्दृष्ट्युपपन्नकाश्च
भणितव्याः । मनुष्याः क्रियासु सराग-वीतराग-प्रमत्ता-ऽप्रमत्ता न
भणितव्याः, कापोतलेश्यायामपि एष एव गतः । नवरम्-मनुष्याः
सरागाः, वीतरागा न भणितव्याः । गाथाः—

दुःखायुक्ते उदीर्णे आहारः कर्म-वर्ण-लेश्याश्च ।

समवेदन-समक्रियाः समाऽऽयुक्तं चैव बोद्धव्यम् ।

मूलार्थ—प्रश्न—भगवन् ! लेश्या वाले सब नैर-
यिक समान आहार वाले हैं ?

उत्तर—हे गौतम ! औधिक-सामान्य, सलेश्य और शुक्ल लेश्या वाले, इन तीनों का एक गम-पाठ कहना चाहिए । कृष्णलेश्या वालों और नील लेश्या वालों का एक-समान पाठ कहना चाहिए, पर उनकी वेदना में इस प्रकार भेद है:—मायिमिथ्यादृष्टि-उपपन्नक और अमायी सम्यग्दृष्टि-उपपन्नक कहने चाहिए । तथा कृष्ण लेश्या और नील लेश्या में मनुष्यों को सरागसंयत, वीतरागसंयत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्त संयत नहीं कहना चाहिए । तथा कापोतलेश्या में भी यही पाठ कहना चाहिए, भेद यह है कि कापोत लेश्या वाले नैरयिकों को औधिक दंडक के समान कहना चाहिए । तेजो लेश्या और पद्म लेश्या वालों को औधिक दंडक के ही समान कहना चाहिए विशेषता यह है कि मनुष्यों को सराग और वीतराग नहीं कहना चाहिए । गार्थी:—

कर्म और आयुष्य उदीर्ण हों तो वेदते हैं । आहार, कर्म, वर्ण, लेश्या, वेदना, क्रिया और आयुष्य इन सब की समानता के संबंध में पहले कहे अनुसार ही समझना चाहिए ।

व्याख्यान—अब तक जो वर्णन किया गया है, उसमें किसी खास अपेक्षा का विचार नहीं था । सामान्य रूप से चौबीस दंडकों के विषय में विचार किया गया है । अब लेश्या की अपेक्षा से चौबीस दंडकों का विचार किया जाता है ।

छः लेश्याओं के छः दंडक और सलेश्य का, एक इस प्रकार सात दंडकों से यहां विचार किया गया है। सरलता से समझने के लिए लेश्याओं की कोटियां बना ली गई हैं।

पहले नैरयिकों का जो वर्णन किया गया है, उसमें सामान्य नैरयिकों का प्रश्न था। लेकिन यहाँ यह प्रश्न है—भगवन् ! लेश्या वाले नारक समान आहारी हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् कहते हैं—गौतम ! सलेश्य नारकों के दो भेद हैं—अल्पशरीरी नैरयिक भी सलेश्य हैं और महाशरीरी नैरयिक भी सलेश्य (लेश्यायुक्त) हैं। अतएव नारकियों के आहार आदि की वक्तव्यता पहले के ही समान समझ लेनी चाहिए।

आहार के विषय में जिस प्रकार प्रश्न किया गया है, उसी प्रकार शरीर, उच्छ्वास, कर्म, वर्ण, लेश्या, वेदना, क्रिया और उपपात के लिए भी प्रश्न करना चाहिए। इसी प्रकार चौबीसों, दण्डकों को लेकर प्रश्न करने चाहिए।

सामान्य रूप से सलेश्य का प्रश्न करने के पश्चात् कृष्ण लेश्या संबंधी प्रश्न आता है। वह इस प्रकार है—कृष्ण लेश्या वाले सब नारकी समान आहारी हैं ? इसके उत्तर में भगवन् फर्माते हैं—नहीं ! क्योंकि कृष्णलेश्या यद्यपि सामान्य रूप से एक है, तथापि उसके अवान्तर भेद अनेक हैं। कोई कृष्णलेश्या अपेक्षाकृत विशुद्ध होती है, कोई अविशुद्ध होती है। एक कृष्णलेश्या से नरकगति मिलती है और एक कृष्णलेश्या से भवनपाति देवों में उत्पत्ति होती है। अतएव कृष्ण लेश्या में तरतमतर के भेद से अनेक भेद हैं। कृष्ण लेश्यावाले नार-

लेख्या का वर्णन



मूलपाठः—

प्रश्न—कइ णं भंते ! लेस्साओ पणत्ताओ ?
उत्तर—गोयमा ! छ लेस्साओ पणत्ता,
तंजहा-लेस्साणं विईओ उद्देसो थाणियव्वो,
जाव-इड्ढी ।

संस्कृत-छाया-प्रश्न—कति भगवन् ! लेख्याः प्रज्ञप्ताः ?

उत्तर—गौतम ! षड् लेख्याः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—लेख्यानां
द्वितीय उद्देशको भणितव्यः, यावद्-ऋद्धिः ।

मूलार्थ-प्रश्न-भगवन् ! लेख्याँ कितनी कही गई हैं ?

उत्तर—गौतम ! लेख्याँ छः कही गई हैं । वह इस
प्रकार—कृष्णलेश्या आदि । यहाँ प्रज्ञापनासूत्र में कथित

लेश्या पद का दूसरा उद्देशक कहना चाहिए। वह ऋद्धि की चक्रव्युत्पत्ति तक कहना चाहिए।

व्याख्यान—लेश्या के भेदों को भलिभाँति समझने के लिए उसके स्वरूप को समझ लेना आवश्यक है। लेश्या के संबंध में पहले कुछ विवेचन किया गया है, फिर भी यहाँ दूसरे प्रकार से वर्णन करना आवश्यक है। जिसके द्वारा आत्मा के साथ कर्मपुद्गलों का श्लेष हो—आत्मा और कर्म मिलकर एकमेक हो जाएँ उसे लेश्या कहते हैं। मैंने पहले बतलाया था कि कषाय से अनुरंजित योग की प्रवृत्ति लेश्या कहलाती है। मगर योग की प्रवृत्ति भी लेश्या कहलाती है। लेश्या का यह लक्षण बतलाते हुए एक आचार्य ने कहा है—जहाँ योग है वहाँ लेश्या होती है और जहाँ योग नहीं है वहाँ लेश्या भी नहीं होती, जैसे चाँदहवें गुण स्थान में। अतएव योग की प्रवृत्ति को ही लेश्या कहना चाहिए।

कषाय से अनुरंजित योग की प्रवृत्ति को लेश्या माना जाय तो तेरहवें गुण स्थान में लेश्या का अभाव हो जायगा, क्योंकि इस गुण स्थान में जो योग की प्रवृत्ति है वह कषाय से अनुरंजित नहीं है, क्योंकि वहाँ कषाय का सर्वथा अभाव हो जाता है। अतएव लेश्या का यह लक्षण ठीक नहीं जान पड़ता। यह एक पक्ष का कथन है।

दूसरे पक्ष की युक्ति इस प्रकार है—योग की प्रवृत्ति को ही लेश्या मानना उचित नहीं है, क्योंकि कषाय के बिना योग से स्थितिवंध नहीं हो सकता। योग से सिर्फ प्रवृत्तिबंध और प्रदेशबंध होता है, स्थितिवंध नहीं होता। स्थितिवंध और

अनुभागबंध कपाय से होते हैं । अतएव अगर योग के परिणाम को लेश्या माना जाय तो कहना होगा कि स्थितिबंध और अनुभागबंध कपाय से नहीं होता ।

इन दोनों पक्षों को ध्यान में रखते हुए यही कहा जा सकता है कि कपाय से अनुरंजित योग की प्रवृत्ति लेश्या कहलाती है और लेश्या तभी तक रहती है जब तक योग है । तेरहवें गुणस्थान में योग है इसलिये लेश्या है । बाद में योग नहीं है अतएव लेश्या भी नहीं है । आठवें गुणस्थान से शुक्ल लेश्या होती है, वह फिर नहीं बदलती । आगे जब तक लेश्या रहेगी, शुक्ल ही रहेगी ।

आचार्य कहते हैं—जब नदी में पूर आता है तब नदी की रेत समतल रूप में जम जाती है और पृष्ठ हट जाने के बाद भी रेत पर जमी हुई तरंगें दिखाई देती हैं । यह सब नदी के प्रवाह से हुआ था । नदी का प्रवाह खत्म हो गया, पानी बह गया । लेकिन उसके निमित्त से बनी हुई लहरें जमी रह गई । इसी प्रकार योग के साथ कपाय का संबंध होने से लेश्या की रचना होती है । योग को लेश्या के रूप में परिणत करना कपाय का काम है । जब कपाय हटकी होती है तब लेश्या प्रशस्त होती है । इस प्रकार कपाय और योग से लेश्या बनी है । जैसे पानी बह जाने पर भी रेत में लहरें बनी रहती हैं उसी प्रकार कपाय के नष्ट होजाने पर भी योग के साथ लेश्या बनी रहती है । तदनन्तर जैसे वायु चलने से रेत की लहरें बिगड़ जाती हैं, उसी प्रकार तेरहवें गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान में जाते समय, योग का नाश होने पर लेश्या भी सर्वथा नष्ट होजाती है ।

यहाँ गौतम स्वामी ने भगवान् से लेश्याओं की संख्या के संबंध में प्रश्न किया है। भगवान् ने उत्तर दिया—गौतम ! लेश्याएँ छः हैं। वे इस प्रकार हैं:—रूप्य, नील, कापोत, तेजो, पद्म और शुक्ल। इनमें से एक-एक लेश्या में असंख्यात-असंख्यात स्थान हैं।

यहाँ यह आशंका की जा सकती है कि लेश्याओं के स्थान असंख्यात-असंख्यात क्यों है ? अनन्त या संख्यात क्यों नहीं है ? इसका समाधान यह है कि जिस स्थान में जीव जाता है, वहाँ के योग्य लेश्या ही उसमें आती है और उस लेश्या से ही स्थितिवन्ध होता है। आयु के समाप्त होने पर वह लेश्या अन्तर्मुहूर्त में बदल जाती है। अर्थात् जिस लेश्या में आयुबन्ध होता है, मरकर उसी लेश्या में जीव जाता है।

जीव को नियत स्थान पर उत्पन्न होने के लिए कौन ले जाता है ? जीव ने तो नरक या स्वर्ग देखा नहीं है, फिर उसे कौन वहाँ पहुँचाता है ? सातवें नरक के नीचे से मरकर पृथ्वीकाय का जीव सिद्धशिला तक पहुँच जाता है। उसे क्या मालूम कि मुझे कहाँ जाना है और क्या करना है ? अतएव जीवों को नियत स्थान पर पहुँचाने वाला कोई दूसरा होना चाहिए। वह कौन ?

इस प्रकार के प्रश्नों का ठीक-ठीक उत्तर न दे सकने वालों ने ईश्वर के जिम्मे पर यह काम साँप दिया है, वे कहते हैं, स्वर्ग या नरक में भेजने वाला ईश्वर के सिवाय और कौन हो सकता है ? बिना राजा की आज्ञा के न कोई जेल में जाता है, न उसके महल में प्रवेश कर सकता है। कहा भी है—

अज्ञो जन्तुरनीशो ऽ यमात्मनः सुख-दुःखयोः ।
ईश्वर प्रेरितो गच्छेत, श्वभ्रं वा स्वर्गमेव वा ॥

अर्थात्—यह अज्ञानी जीव अपना सुख-दुःख भोगने में असमर्थ है। इसलिए ईश्वर की प्रेरणा से प्रेरित होकर स्वर्ग-नरक में जाता है।

ईश्वर सुख-दुःख का दाता है, इस संबंध में, इसी सूत्र के व्याख्यान में पहले विचार किया जा चुका है। अतएव पिष्ट पेषण करना उचित नहीं है। वास्तव में ईश्वर को सुख-दुःख का दाता मानने से उसमें अनेक दोष आते हैं। इसलिए ईश्वर सुख-दुःख नहीं देता।

अगर ईश्वर सुख-दुःख नहीं देता तो जीव को नरक में कौन भेजता है? इस प्रश्न का समाधान करने के लिए ही लेश्या के असंख्यात स्थान बतलाये गये हैं। और साथ ही यह भी बतलाया गया है कि जीव जिस स्थान में उत्पन्न होता है उसी की लेश्या में आयु-बंध होता है। इससे यह निष्कर्ष निकालना कठिन नहीं है कि नरक या स्वर्ग में ले जाने वाली लेश्या ही है। कहा भी है—

मरणान्ते या गतिः सा मतिः ।

अर्थात्—मृत्यु के पश्चात् जैसी गति होने वाली है, वैसी ही मति मृत्यु काल में होती है।

जब तक आयु का बंध नहीं हुआ तब तक जैसी मति है वैसी गति है, मगर आयु का बंध हो चुकने के पश्चात् जैसी

गति है वैसी माते होती है। कल्पना कीजिए, आप दिल्ली नगर के मकानों की रचना देख रहे हैं। यह रचना किस प्रकार हुई है ? सर्व प्रथम मनुष्य के मस्तिष्क में इस रचना का विकास हुआ, फिर उसने उसे स्थूल रूप प्रदान किया। अतएव यह रचना मन के विचारों पर ही निर्भर है। जिस मन के विचार से यह रचना हुई है, उसी मन के विचार से वह नष्ट भी हो सकती है। इसी प्रकार स्वर्ग या नरक आदि सब मन की लेश्या पर निर्भर है। जैसी लेश्या होती है, वैसी ही गति होती है। पहले लेश्या बनी या पहले स्थान बना, यह कहा नहीं जा सकता, क्योंकि दोनों में से किसी की पहल नहीं है, दोनों अनादिकालीन प्रवाह से चल रहे हैं।

लेश्या एक साधारण-सी बात मालूम होती है, पर अगर गहराई से देखा जाय तो लेश्या के ही कारण जीव अनादिकाल से भव-भ्रमण कर रहा है। अतः यह विचार मत करो कि स्वर्ग में सुख और नरक में दुःख है, चरन् निश्चित समझो कि समस्त सुख और दुःख तुम्हारी ही लेश्या में भरा पड़ा है। अनाथी मुनि ने राजा श्रेणिक को यह सब बतलाया था। उन्होंने कहा था—

अप्पा कत्ता विकत्ता य, सुहाण य दुहाण य ।

अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठिय सुप्पट्ठिओ ॥

❀ ❀ ❀ ❀ ❀ ❀

अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली ।

अप्पा कामदुहा धेणू, अप्पा मे नंदणं वणं ॥

अर्थात्—विना कर्म के कुछ होता नहीं और कर्म अपने ही किये लगते हैं। इसलिए चाहे दुःख हो चाहे सुख हो, वह अपना-आत्मा का ही किया हुआ है। जो कुछ करता है, आत्मा ही करता है। अतएव आत्मा ही अपना मित्र है और आत्मा ही अपना शत्रु है।

आत्मा के अपने ही कर्मों से सुख-दुःख की प्राप्ति होती है, इसलिए आत्मा ही वैतरणी नदी है, आत्मा ही कूट शाल्मलिवृक्ष है और आत्मा ही कामधेनु तथा नन्दनवन है।

लेश्या में ही संसार है। बुरी लेश्या में नरक है। अगर वैतरणी से डरते हो तो बुरी लेश्या क्यों उत्पन्न होने देते हो? वैतरणी की लेश्या नहीं लाओगे तो वैतरणी आप ही दूर भाग जायगी।

अनाथी मुनि ने वैतरणी और कूट शाल्मलि वृक्ष में सारा नरक गर्भित कर दिया है और कामधेनु एवं नन्दनवन में सम्पूर्ण स्वर्ग समा दिया है। कूट शाल्मलि, वैतरणी, नन्दनवन और कामधेनु अन्य कुछ नहीं, सब आत्मा की लेश्या में ही हैं। इस प्रकार स्वर्ग और नरक, दोनों तुम्हारी मुट्टियों में हैं। जिसे चाहो, अंगीकार कर सकते हो। तुम स्वयं अपने सुख-दुःखदाता ईश्वर हो। दूसरा कोई तुम्हें स्वर्ग नरक का अधिकारी नहीं बना सकता।

लेश्या की विशुद्धि के लिए सतत आत्मनिरीक्षण की आवश्यकता है। तुम्हारे अन्तःकरण में कब, कौन सी लेश्या का प्रादुर्भाव होता है, यह बात शास्त्र रूपी दर्पण में, ज्ञान-नेत्रों से देख सकते हो। जैसे वैद्यकशास्त्र में रोग के लक्षण

वतलाये गये हैं और उन लक्षणों से यह निश्चय कर लिया जाता है कि मुझे कौन-सा रोग हुआ है, इसी प्रकार शास्त्रों में लेश्या का वर्णन पाया जाता है। शास्त्रों के अनुसार मिलान करके देखो कि मुझ में कौन-सी लेश्या उद्भूत हुई है। सम्यग्दृष्टि पुरुष लेश्याओं का विचार करके यह निश्चय करता है कि मैं स्वयमेव स्वर्ग-नरक का कर्ता हूँ। अपनी लेश्या ही फलदायिनी होती है। दूसरा कोई किसी को स्वर्ग-नरक में नहीं भेज सकता।

नमि राजपि से इन्द्र ने कहा था कि आप राजा हैं और राजा के योग्य ही कार्य कीजिए:—

आमोले लोमहारे, य गंठी भेए य तकरे ।

नगस्स खेमं काऊण, त ओ गच्छसिखत्तिआ ॥

श्री उत्तराध्ययन सूत्र ६वां अ०

अर्थात्—हे क्षत्रिय ! जो लोग प्रजा को लुटते हैं, ठगते हैं, और गाँठ काटते हैं, उन्हें कठोर शिक्षा (सजा) देकर अपने राज्य में ऐसी व्यवस्था का प्रचार करो कि आपके राज्य में कोई चोर, लुटेरा या गिरहकट न रहने पावे। ऐसे लोगों द्वारा नगर को संताप होता है। अतएव इनके द्वारा होने वाला संताप मिटाकर शान्ति का संचार कीजिए। इसके पश्चात् साधु व्रतना। जब तक आप इन द्रव्य-चोरों को वश में नहीं करोगे तब तक भाव-चोरों को किस प्रकार अधीन कर सकोगे ? अतएव पहले इन चोरों का निग्रह करो।

कई लोग कहते हैं— धन हमने उपार्जन किया और

बढ़ते हैं। आज चोरी का एक उपाय दिवाला निकालना भी है। सिक्के की कृपा से चोरी के अनेक शिष्टसम्मत तरीके ईजाद हुए हैं। सिक्के के अभाव में कोई संग्रह करता भी तो धान्य का संग्रह करता। पर धान्य का कितना संग्रह किया जा सकता है? सिवा खाने के वह और किस काम आ सकता है? लेकिन सिक्के तो ज़मीन में गाड़ कर रखे जाते हैं।

प्रश्नव्याकरण सूत्र का तीसरा द्वार देखो तो पता चलेगा कि वास्तव में चोर कौन है? टालस्टाय के ग्रन्थ देखने से पता चलता है कि भगवान् महावीर के अधिकांश उपदेश उसकी बुद्धि में उतर गये थे।

तात्पर्य यह है कि लेश्या की शुद्धता के लिए वस्तु-तत्त्व का और अपने अन्तःकरण का गंभीर निरीक्षण करते रहना चाहिए। सदा अपनी चौकसी करने वाला आत्मशुद्धि की ओर शीघ्रता से प्रगति करता है।

भगवान् ने, गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में कहा— गौतम ! लेश्याएँ छः हैं। पञ्चवर्णा सूत्र के ३४वें पद के दूसरे उद्देशक में लेश्या का जो वर्णन किया गया है, वह सब यहाँ समझ लेना चाहिए। वहाँ इस प्रकार का पाठ है—

प्र०—भगवन् ! लेश्याएँ कितनी हैं ?

उ०—गौतम ! लेश्याएँ छः हैं—शुक्ल लेश्या से कृष्ण लेश्या तक।

प्र०—भगवन् ! नैरयिक के कितनी लेश्याएँ हैं ?

उ०—गौतम ! तीन हैं।

यहाँ यह विचारने योग्य है कि जीव कृष्ण, नील और कापोत लेश्या से तरक गया है और उन्हीं लेश्याओं से, तरक से निकल कर तीर्थकर भी होता है। जो लेश्याएँ तरक गति में जाने का कारण नहीं थीं, वही तीर्थकर होने का भी कारण बनती हैं। इसी से यह समझा जा सकता है कि प्रत्येक लेश्या से कितने-कितने अवान्तर भेद हैं।

हे गौतम ! तरक के जीवों में तीन लेश्याएँ होती हैं। तिर्यच योनि के जीवों में छह लेश्याएँ पाई जाती हैं। एकेन्द्रियों में चार लेश्याएँ हो सकती हैं। पृथ्वीकाय, जलकाय और वनस्पति काय में चार लेश्याएँ होती हैं, तेजस्काय, वायुकाय, दीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय में तीन लेश्याएँ हैं। तिर्यच पंचेन्द्रिय और मनुष्य में छह लेश्याएँ हैं। भुवनपति और व्यन्तर के चार लेश्याएँ हैं ज्योतिष्क देवों में तेजो लेश्या है। पहले और दूसरे देवलोक में तेजो लेश्या, तीसरे से पांचवे में एग्न लेश्या तथा आगे के स्वर्गों में शुक्ल लेश्या होती है।

गौतम स्वामी, भगवान् से प्रश्न करते हैं—भगवन् ! कृष्ण लेश्या से शुक्ल लेश्या तक के जीवों में से कौन कम ऋद्धि वाला है और कौन किससे अधिक ऋद्धि वाला है ? इसके उत्तर में भगवान् ने फर्माया—कृष्ण लेश्या वाले से नील लेश्या वाला महा-ऋद्धिमान् है। इस प्रकार सबसे अधिक ऋद्धिमान् शुक्ल लेश्या वाले हैं और सबसे कम ऋद्धिमान् कृष्ण लेश्या वाले हैं।



संसार संस्थान काल



मूलपाठ—

प्रश्न—जीवस्स णं भंते ! तीतद्धाए
आदिट्ठस्स कईविहे संसार सं चिट्ठण काले
पणणत्ते ?

उत्तर—गोयमा ! चउविहे संसार संचिट्ठ-
णकाले पणणत्ते, तंजहाणेरइय संसार सं चिट्ठण
काले, तिरिक्ख-मणुस्स-देवसंसार सं चिट्ठण
काले य पणणत्ते !

प्रश्न—नेरइय संसार सं चिट्ठण काले णं भंते ! कइविहे पणणत्ते ?

उत्तर—गोयमा इतिविहे पणणत्ते, तंजहा-
सुन्नकाले, असुन्नकाले, मिससकाले ।

प्रश्न—तिरिक्ख जोणिअ संसारं पुच्छा ?

उत्तर—गोयमा । दुविहे पणणत्ते, तंजहा-
असुन्नकाले य मिससकाले य । मणुस्साण य
देवाण य जहा नेरइयाणं ।

प्रश्न—एअस्स णं भंते । नेरइ अस्स
संसार सं चिट्ठण कालस्स सुन्नकालस्स, असुन्न-
कालस्स, मीसकालस्स य कयरे, कयरोहिंतो
अप्पे वा, बहुए वा, तुल्ले वा, विसेसाहिए वा ?

उत्तर—गोयमा । सव्वत्थो वे असुन्नकाले
मिससकाले अणंतगुणे, सुन्नकाले अणंतगुणे !

तिरिक्ख जोणियाण सव्वत्थोवे असुन्नकाले,
मीसकाले अणंतगुणे, मणुस्स-देवाण य जह
नेरइयाणं !

प्रश्न—एअस्स एं भंते ! नेरइ असंसार
संचिट्टणकालस्स जाव-देवसंसारसंचिट्टणकाल-
स्स जाव-विसेसाहिण वा ?

उत्तर— गोयमा ! सव्वत्थोवे मणुस्ससं-
सार संचिट्टणकाले, नेरइअ संसारसंचिट्टण-
काले असंखेज्जगुणे, देवसंसारसंचिट्टणकाले अ-
संखेज्जगुणे, तिरिक्खजोणिय संसारसंचिट्टण-
काले अणंतगुणे ।

संस्कृत—आया प्रश्न - जीवस्य भगवन् ! अतीतकाले
आदिष्टस्य कतिविधः संसार संस्थान कालः प्रज्ञप्तः ?

उत्तर—मौतम ! चतुर्विधः संसार संस्थान कालः प्रज्ञप्तः,

तद्यथा-नैरयिकसंसार संस्थानकालः, तिर्यग्-मनुष्य-देव-संसार संस्थान कालश्च प्रज्ञतः ।

प्रश्न—नैरयिकसंसारसंस्थानकालो भगवन् ! कतिविधः प्रज्ञतः ?

उत्तर—गौतम ! त्रिविधः प्रज्ञतः, तद्यथा-शून्यकालः, अशून्यकालः, मिश्रकालः ।

प्रश्न—तिर्यग्धोनिकसंसार ० पृच्छा ?

उत्तर—गौतम ! द्विविधः प्रज्ञतः, तद्यथा-अशून्यकालश्च, मिश्रकालश्च । मनुष्याणां च, देवानाञ्च यथा नैरयिकाणाम् ।

प्रश्न—एतस्य भगवन् ! नैरयिकस्य संसारसंस्थानकालस्य शून्यकालस्य, अशून्यकालस्य, मिश्रकालस्य च कतरः कतरेभ्योऽल्पो वा, बहुको वा, तुल्यो वा, विशेषाधिको वा ?

उत्तर—गौतम ! सर्वस्तोकोऽशून्यकालः, मिश्रकालोऽनन्तगुणः, शून्यकालोऽनन्तगुणः ।

तिर्यग्-योनिकानां सर्वस्तोकोऽशून्यकालः, मिश्रकालोऽनन्तगुणः, मनुष्य देवानाञ्च यथा नैरयिकाणाम् ।

प्रश्न—एतस्य भगवन् ! नैरयिकसंसारसंस्थानकालस्य यावत्-देवसंसारसंस्थानकालस्य यावत् विशेषाधिको वा ?

उत्तर—गौतम ! सर्वस्तोको मनुष्यसंसारसंस्थानकालः, नैरयिकसंसारसंस्थानकालोऽसंख्येयगुणः, देवसंसारसंस्थानकालोऽसंख्येयगुणः, तिर्यग्-योनिकसंसारसंस्थानकालोऽनन्तगुणः ।

मूलार्थ-प्रश्न—भगवन् ! अतीतकाल में आदिष्ट-नारक आदि विशेषण-विशिष्ट जीवों का संसार-संस्थानकाल कितने प्रकार का कहा गया है ?

उत्तर—गौतम ! संसार-संस्थान का काल चार प्रकार का कहा है, वह इस प्रकार है—नैरयिकसंसारसंस्थानकाल, तिर्यचसंसारसंस्थानकाल, मनुष्यसंसारसंस्थान काल और देवसंसारसंस्थान काल ।

प्रश्न—भगवन् ! नैरयिकसंसारसंस्थान काल कितने प्रकार का कहा गया है ?

उत्तर—गौतम ! तीन प्रकार का कहा है, वह इस प्रकार—शून्यकाल, अशून्यकाल और मिश्रकाल ।

प्रश्न—भगवन् ! तिर्यच संसारसंस्थानकाल कितने प्रकार का कहा है ?

उत्तर—गौतम ! दो प्रकार का कहा है, वह इस

प्रकार—अशून्यकाल और मिश्रकाल । मनुष्यों और देवों के संसारसंस्थान काल के प्रकार नारकियों के समान ही समझने चाहिए ।

प्रश्न—भगवन् ! नारकियों के संसारसंस्थान काल के तीन शून्य-अशून्य और मिश्र कालों में कौन किससे कम, बहुत, तुल्य या विशेषाधिक है ?

उत्तर—गौतम ! सब से कम अशून्य काल है, उससे मिश्रकाल अनंतगुना है और उसकी अपेक्षा भी शून्य काल अनंतगुणा है ।

तिर्यंच संसार संस्थान काल के दो भेदों में से सब से कम अशून्य काल है और उसकी अपेक्षा मिश्रकाल अनंतगुणा है ।

मनुष्यों और देवों के संसार संस्थान काल की न्यूनाधिकता नारकियों के संसार संस्थान काल की न्यूनाधिकता के समान ही समझना चाहिए ।

प्रश्न—भगवन् ! नारकियों के, तिर्यंचों के, मनुष्यों के और देवों के संसारसंस्थान कालों में कौन किससे कम, ज्यादा, तुल्य या विशेषाधिक है ?

तो वहाँ कितने प्रकार का काल भोगा ? यहाँ लोकोत्तर काल से अभिप्राय समझना चाहिए। भगवान् ने उत्तर दिया — गौतम ! नरक में जीव ने तीन प्रकार का काल बिताया है—शून्य काल अशून्यकाल और मिश्रकाल। आगम में कहा है।

सुन्नासुन्नो भीमो त्रिविहो संसार चिद्वृणा कालो ?

तिरियाणं सुन्नवज्जो सैसाणं होइ त्रिविदो वि ।।

अर्थात्—संसार संस्थान काल तीन प्रकार है—शून्यकाल, अशून्यकाल और मिश्रकाल। तिर्यच्चों में शून्यकाल नहीं होता, और सब गतियों में तीनों प्रकार का संस्था-काल होता है।

अब प्रश्न यह है कि शून्य काल किसे कहते हैं ? इस विषय में टीकाकार का कथन है यद्यपि पहले शून्यकाल का नाम आया है, तथापि पहले अशून्यकाल का स्वरूप बतलाया जाता है। अशून्यकाल समझ लेने पर शेष दो सरलता से समझे जा सकेंगे।

वर्तमान काल में सार्तों नरकों में जितने जीव विद्यमान हैं, उनमें से जितने समय तक न कोई जीव मरे और न नया उत्पन्न हो, अर्थात् उतने के उतने ही जीव जितने समय तक रहें, उस समय को नरक की अपेक्षा अशून्य काल कहते हैं। उदाहरणार्थ—इस समय व्याख्यान सभा में जितने श्रोता मौजूद हैं उनमें से जब तक न एक भी जावे और न एक भी नया आवे, उस समय को अशून्य काल समझना चाहिए। तात्पर्य यह है नरक में एक ऐसा भी समय आता है जब न कोई नया जीव नरक में जाता है और न पहले के नारकियों

में से कोई बाहर निकल कर आता है। वही काल नरक का अशून्य काल कहलाता है। कहा है—

आइदृसमइयाणं, नेरइयाणं न जाव एको वि ।

उव्वइइ अनो वा, उव्वज्जइ सो असुन्नो ओ ॥

अर्थात्—आदिष्ट समय वाले नारकी जीवों में से जब तक न एक भी मरकर निकलता है, न कोई नया उत्पन्न होता है, तब तक का काल अशून्यकाल कहलाता है।

वर्तमान काल के इन नारकियों में से एक, दो, तीन, चार, इत्यादि क्रम से निकलते-निकलते जब एक ही नारकी शेष रह जाए, अर्थात् मौजूदा नारकियों में से एक का निकलना जब आरंभ हुआ तब से लेकर जब एक शेष रहा तब तक के समय को मिश्रकाल कहते हैं। उदाहरणार्थ—वर्तमान काल में यहां जितने मनुष्य बैठे हैं, वे सब एक-एक करके चले जावें, सिर्फ मनुष्य शेष रह जाय और दूसरे नये आजावें, तब तक का समय मिश्रकाल कहलाता है।

वर्तमान काल के जिन नारकियों का ऊपर विचार किया है, उनमें से जब समस्त नारकी, नरक से निकल आवें एक भी शेष न रहे, और उनके स्थान पर सभी नये नारकी पहुँच जावें, वह समय शून्यकाल कहलाता है। जैसे—व्याख्यान में एक हजार आदमी बैठे थे, धीरे-धीरे वे सब चले गये। उनमें से एक भी बाकी न रहा और उनके बंदले नये आदमी आ बैठे, यह शून्यकाल कहलाया।

भगवान् फमति हैं—हे गौतम ! यह जीव नरक में

रहा है। इसने कभी ऐसी अवस्था भोगी है जब नरक के अपने साथियों से बिछुड़ कर अकेला ही रहा, कभी इसने ऐसी अवस्था भोगी, जब इसके साथी अनेक जीव वहाँ मौजूद थे और कभी ऐसा भी समय आया जब इसके साथ पहले वालों में कोई भी शेष नहीं रहा था।

गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवान् ! तिर्यच योनि में यह जीव कैसे रहा ? भगवान् फर्माते हैं—गौतम ! तिर्यच योनि में जीव दो प्रकार से रहा—अशून्यकाल में और मिश्रकाल में।

मिश्रकाल के नारकी जीवों का जो विचार किया है, वह वर्तमान काल के जीवों की अपेक्षा से ही नहीं किया है, किन्तु जिस काल में नरक के जीव नरक में थे, वे निकल कर दूसरी योनि में गये—फिर चाहे वे किसी भी योनि में गये, हों, परन्तु उनकी अपेक्षा से भी विचार किया है। उदाहरण के लिए—व्याख्यानसभा में एक हजार मनुष्य बैठे थे। उनमें से और सब चले गये, सिर्फ एक ही मनुष्य शेष रहा। वे गये हुए मनुष्य, कहीं भी जाकर व्याख्यान में आ जायें, वह समय मिश्रकाल कहलाता है।

अगर ऐसा न माना जायगा तो दोष आयगा। अगे अशून्यकाल की अपेक्षा मिश्रकाल अनन्तगुणा कहा है, सो घट नहीं सकेगा। अशून्यकाल अर्थात् विरहकाल वारह मुहूर्त्त का है। अगर यहाँ नरक के जीवों की ही अपेक्षा ली जाय तो वह असंख्यातगुणा ही ठहरेगा, अनन्तगुणा नहीं। इसलिए जो जीव नरक से निकल कर वनस्पति में गया, वह भी नरक की अपेक्षा वाले मिश्रकाल में गिना जायगा, तभी मिश्रकाल की अनन्तगुणा सिद्ध होगी। कहा भी है—

एयं प्रण ते जीवे, पदुच्च सुतं न तन्मवं चैव ।

जइ होज्ज तन्मवं तो, अनन्तकालो न संभवइ ॥

अर्थात्—यह सब जीवों को उसी भव के आश्रित नहीं है; अगर उसी भव के आश्रित माना जाय तो मिश्रकाल अनन्तगुणा संभव न होगा ।

मिश्रकाल की अनन्तगुणता में क्यों बाधा आएगी, इसे स्पष्ट कर देना आवश्यक है । नरक के वर्तमानकालीन नारकी अपनी आयु पूर्ण करके नरक से निकलते ही हैं और नरक की आयु असंख्यातकाल की ही है, अनन्तकाल की नहीं है । ऐसी अवस्था में बारह मुहूर्त वाले अशून्यकाल की अपेक्षा मिश्रकाल असंख्यातगुणा सिद्ध होगा, अनन्तगुणा नहीं । अतः एव नरक के जीव जब तक नरक में रहें तभी तक मिश्रकाल नहीं समझना चाहिए, वरन् नरक के जीव नरक से निकल कर दूसरी योनि में जन्म लेकर फिर नरक में आवें, तब तक का काल मिश्रकाल है ।

तिर्यच योनि में दो ही संस्थानकाल हैं—अशून्यकाल और मिश्रकाल । शून्यकाल तिर्यच योनि में नहीं है । शून्यकाल तब होता है जब उस योनि में पहले वाला एक भी जीव न रहे, मगर तिर्यच योनि में अनन्त जीव हैं । वे सब के सब उसमें से निकल कर नहीं जाते । इसलिए तिर्यच योनि में शून्यकाल नहीं है ।

मनुष्य योनि और देवयोनि में तीनों काल हैं । अतएव इन दोनों का वर्णन पूर्वोक्त नारकियों के वर्णन के समान ही समझना चाहिए ।

इसके अनन्तर गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं कि नरक की अपेक्षा से तीनों कालों में कौन-सा काल सब से कम अधिक है ? भगवान् ने फर्माया-नरक की अपेक्षा से सब से कम अशून्यकाल है। अशून्यकाल उत्कृष्ट से उत्कृष्ट बारह मुहूर्त्त का है। मिश्रकाल, अशून्यकाल से अनन्तगुणा है। जीव नरक से निकलकर दूसरी गति में जाकर-ब्रह्म और वनस्पति आदि में गमनागमन करके फिर नरक में आवे, तब तक मिश्रकाल ही है।

मिश्रकाल अनन्तगुणा है, इसका कारण यह है कि नारकी का निलेपन काल और वनस्पति का कायस्थिति काल अनन्तवा भाग आता है। इसलिए मिश्रकाल अनन्तगुणा है।

शून्यकाल, मिश्रकाल से भी अनन्तगुणा है। नरक के जीव नरक से निकलकर वनस्पति में आते हैं और वनस्पति की स्थिति अनन्तकाल की है अतएव शून्यकाल अनन्तगुणा है।

तिर्येचों की अपेक्षा सब से कम अशून्यकाल है। बारह मुहूर्त्त का विरह होता है, इसलिए अशून्यकाल कम है।

तिर्येच पंचेन्द्रिय की अपेक्षा अशून्यकाल बारह मुहूर्त्त है, तीन विकलेन्द्रिय का अनन्तमुहूर्त्त का है और पांच समूर्द्धिम तिर्येचों की अपेक्षा अशून्यकाल है ही नहीं। एकेन्द्रिय की अपेक्षा से भी अशून्यकाल नहीं होता, मिश्रकाल ही रहता है।

पृथ्वीकाय आदि में भी असंख्य जीव उत्पन्न होते हैं,

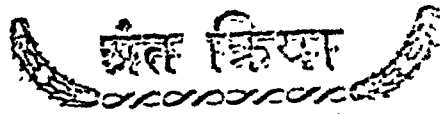
और नये जाते हैं, अतएव पृथ्वीकाय आदि में भी मिश्रकाल अनन्तगुण है।

मनुष्यों और देवों के संस्थान-काल की हीनाधिकता नारकियों के ही समान समझनी चाहिए।

संसार की अपेक्षा जीव का तीन कालों का संसार-संस्थान-काल समाप्त होता है। इसके अनन्तर मोक्ष का प्रश्न उपस्थित होता है। उस पर आगे विचार किया जाता है।

६





मूलपाठ—

प्रश्न—जीवे एं भंते ! अंतकिरियं करे जा ?

उत्तर—गोयमा ! अत्थेगइए करेजा,
अत्थेगइए नो करेजा, अंतकिरियापयं नेयव्वं !

संस्कृत-छाया-प्रश्न—जीवो भगवन् ! अन्तक्रियां कुर्यात् ?

उत्तर—गौतम ! अस्त्येककः कुर्यात् अस्त्येकको नो कुर्याद,
अन्तक्रियापदं ज्ञातव्यम् ।

मूलार्थ-प्रश्न-भगवन् ! जीव अन्तक्रिया (मोक्षप्राप्ति)
करता है ?

उत्तर-गौतम ! कोई जीव करता है, कोई जीव नहीं करता है; यहां प्रज्ञापना सूत्र का बीसवां अन्तक्रिया पद समझना चाहिए ।

व्याख्यान—कई लोगों का कथन है कि जीव स्वभाव से संसार में परिभ्रमण करता रहता है और जीव का स्वभाव सदा कायम रहता है, इसलिए उसका भव-भ्रमण भी सदा कायम रहता है । इस कथन का आशय यह निकला कि जीव किसी मुक्ति नहीं प्राप्त करता । कदाचित् किसी जीव को मोक्ष प्राप्त हो जाय तो वहां पर भी वह कुछ समय रहकर दूसरी योनि में जन्म ले लेता है । उनकी मान्यता के अनुसार मोक्ष भी संसार की ही एक अवस्था है । वे मोक्ष को ऐसा नहीं मानते, जहां पहुँच कर जीव का परिभ्रमण समाप्त हो जाता है; फिर कभी वहां से वापस नहीं लौटना पड़ता ।

इस मान्यता पर दृष्टि रखते हुए गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन् ! जीव संसार में ही रहता है या संसार-विच्छेद कर मोक्ष भी जाता है ? अर्थात् जीव अन्तक्रिया करता है ?

जिस क्रिया के पश्चात् फिर कभी दूसरी क्रिया न करनी पड़े, वह अंतक्रिया कहलाती है अथवा कर्मों का सर्वथा अन्त करने वाली क्रिया भी अन्तक्रिया कहलाती है । दोनों का आशय एक ही है—सकल कर्म समूह का क्षय करके मोक्षप्राप्ति की क्रिया अन्तक्रिया है ।

इस प्रश्न के उत्तर के लिए आचार्य पञ्चवर्णासूत्र के 'अन्तक्रिया' नामक बीसवें पद का हवाला देकर कहते हैं—

अन्तक्रिया पद में विस्तार पूर्वक वर्णन है, वह यहाँ समझ लेना चाहिए। प्रज्ञापनासूत्र में किया हुआ वर्णन संक्षेप में इस प्रकार है—

प्रश्न—भगवन् ! जीव अन्तक्रिया करता है ?

उत्तर—गौतम ! कोई जीव करता है, कोई जीव नहीं करता ।

प्रश्न—भगवन् इसका क्या कारण है ?

उत्तर—गौतम ! भव्यजीव अन्तक्रिया करते हैं, अभव्य-जीव अन्तक्रिया नहीं करते हैं ।

यह समुच्चय जीव के संबंध में प्रश्नोत्तर हैं । इसी प्रकार नैरायिक से लेकर वैमानिक देवों तक के विषय में प्रश्न करना चाहिए । इन सब प्रश्नों का उत्तर यही होगा कि कोई जीव अन्तक्रिया करते हैं, कोई नहीं करते । अर्थात् भव्य जीव करते हैं, अभव्यजीव नहीं करते ।

इसके पश्चात् गौतम स्वामी पूछते हैं—अगर भव्य नारक आदि अन्तक्रिया करते हैं तो क्या उसी भव से करते हैं ?

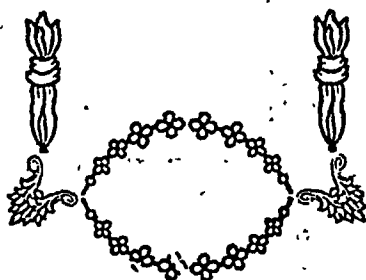
उत्तर—हे गौतम नहीं । नरक के जीव मनुष्य भव पाकर अन्तक्रिया करते हैं; मनुष्य भव के बिना अन्तक्रिया नहीं हो सकती ।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि पहले नारकियों का अन्त-क्रिया करना कहा है और यहाँ उसका निषेध क्यों कर दिया

है ? इसका उत्तर यह है कि कोई नारकी अन्तक्रिया करते हैं, यह कथन भविष्य की अपेक्षा से है। इस कथन द्वारा यह प्रकट किया गया है कि नारकियों में भी अंतक्रिया करने की शक्ति विद्यमान है, मगर उस शक्ति की अभिव्यक्ति नारक भव में होती नहीं है। नारक जीव मनुष्य पर्याय पाकर ही अंतक्रिया करते हैं।

जीव में जब तक कर्म-बंध का सद्भाव रहता है, तब तक वह अंतक्रिया नहीं करता। कर्म शेष रहने से कोई-कोई जीव देवपर्याय में भी उत्पन्न होता है, अतएव अब देवता सम्बन्धी प्रश्न उपस्थित होता है।

इस विषय में गौतम स्वामी ने चौदह प्रश्न किये हैं और भगवान् ने अनेक उत्तर दिये हैं। इसको वर्णन आगे दिया जाता है।



द्वैकोष्पात्



मूलपाठ—

प्रश्न— अह भंते ! असंजय भवियदव्व-
देवाणं, अविराहिय संजमाणं, विराहियसंज-
माणं, अविराहियसंजमासंजमाणं, विराहिय-
संजमासंजयाणं, असणणीणं, तावसाणं,
कंदप्पिआणं, चरगपरिव्वायगाणं, किव्विसिआ-
णं, तेरिच्छिआणं, आजीविआणं, आभिओ-
गिआणं, सलिंगी, दंसणवावरणगाणं, एएसिं-
णं देवलोगेसु उववज्जमाणाणं कस्स कहिं उव-
वाए पणत्ते ?

उत्तर— गोयमा ! असंजय भवियदव्वदे-
वाणं जहण्णेणं भवणवासिसु, उक्कोसेणं उवरिम

गेविज्जएसु; अविराहिअसंजमाणं जहण्णेणं
 सोहम्मे कप्पे, उक्कोसेणं सव्वट्ठसिद्धे विमाणे;
 विराहियसंजमाणं जहण्णेणं भवणवासिसु उक्को-
 सेणं सोहम्मे कप्पे; अविराहियसंजमासंजमाणं
 जहण्णेणं सोहम्मे कप्पे, उक्कोसेणं अच्चुए कप्पे;
 विराहियसंजमासंजमाणं जहण्णेणं भवणवासिसु
 उक्कोसेणं जोइसिएसु; असण्णीणं जहण्णेणं भ-
 वणवासिसु, उक्कोसेणं वाणमंतरेसु; अवसेसा
 सव्वे जहण्णेणं भवणवासिसु, उक्कोसेणं वो-
 च्छामि-तावसाणं जोतिसिएसु, कंदप्पिआणं
 सोहम्मे कप्पे, चरगपरिवायगाणं बंभलोए कप्पे,
 किब्बिसियाणं लंतगे कप्पे, तेरिच्छिआणं सह-
 स्सारे कप्पे, आजीविआणं अच्चुए कप्पे, अ-
 भिआगिआ अच्चुए कप्पे, सलिंगीण दंसणस-
 मावणगाणं उवरिमगेविज्जएसु ।

है ? आशय यह है कि चाग्नि का उपशान्त न होने से, प्रमादी होने पर भी आराधक कहा है ।

अब तीसरा प्रश्न विराधक संयमी का है । विराधक संयमी अगर देवगति में जाय तो जघन्य भवनवासी और उत्कृष्ट सौधर्मकल्प में उत्पन्न होता है ।

पहले आराधक संयमी का जो स्वरूप बतलाया गया है, उससे विपरीत विराधक संयमी कहलाता है । अर्थात् जिसने महाव्रत ग्रहण तो किये हैं, मगर उनका पालन मली-भाँति नहीं किया, जो नियतों की मर्यादा लांघकर महाव्रत में दोष लगाता है, वह विराधक संयमी कहा जाता है ।

चौथा प्रश्न अविराधक संयमासंयमी का है । जिस समय से देशविराति को ग्रहण किया, उस समय से अखण्डित रूप से उसका पालन करने वाला आराधक संयमासंयमी कहलाता है । ऐसा आधक अगर देवलोक में उत्पन्न होतो जघन्य सौधर्म कल्प में और उत्कृष्ट अच्युत विमान (चारुहर्वे स्वर्ग) में उत्पन्न होता है ।

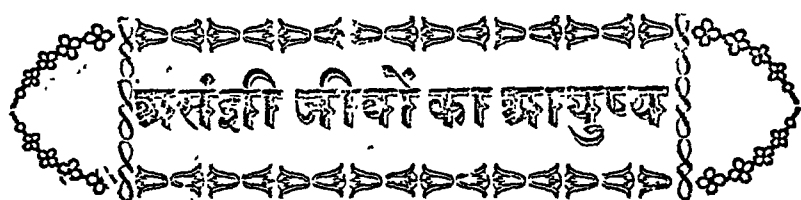
इसी प्रकार विराधक संयमासंयमी अगर देवगति प्राप्त करे तो जघन्य भुवन-वासी में और उत्कृष्ट ज्योतिष्क में उत्पन्न होता है ।

छठा प्रश्न असंशी जीवों का है । जिनके मनोलब्धि नहीं है, उन जीवों को असंशी कहते हैं । असंशी जीव अकाम

का समाधान यह है कि सुकुमारिका ने मूलगुण की नहीं, किन्तु उत्तरगुण की विराधना की थी अर्थात् बुक्कसपन धारण किया था। बार-बार मुँह-हाथ धोते रहने से साधु का चारित्र्य कवरा हो जाता है। सुकुमारिका का यही हुआ था। यह उत्तरगुण की विराधना हुई, मूलगुण की नहीं। यहाँ जिन विराधक संयमियों का उत्कृष्ट सौधर्म कल्प में उत्पाद बतलाया गया है, वे मूलगुण के विराधक समझने चाहिए।

अगर यह हठ किया जाय कि चाहे मूलगुण का विराधक हो, चाहे उत्तरगुण का, पहले देवलोक से आगे नहीं जाता; तो बुक्कस नियंठा वाला उत्तरगुण का परिसेवी होने पर भी बारहवें देवलोक तक जाता है। इस कथन से विरोध आता है। इसलिए जो विशिष्टता गुण का विराधक हो वह नीची गति में जाता है, और कथंचित् विरोधक-कथंचित् आराधक, विराधक संयमी की तरह नीची गति में नहीं जाता।

अब एक प्रश्न और शेष रह जाता है। असंखी जीव का जघन्य भवनवासी और उत्कृष्ट वाणव्यंतर में उत्पाद बतलाया गया है, इससे ऐसा प्रतीत होता है कि भवनवासी से व्यंतर बड़े हैं। क्या वास्तव में यही बात है? इसके सिवाय चमरेन्द्र तथा बलेन्द्र की ऋद्धि बड़ी कही है। आयुष्य भी इनका सागरोपम से अधिक है, जब कि वाणव्यन्तर का पल्योपम प्रमाण ही है। फिर वाण-व्यंतर बड़े कैसे माने जा सकते हैं? इसका उत्तर यह है कि कई वाणव्यन्तर, कई भवनवासियों से भी उत्कृष्ट ऋद्धि वाले हैं और कई भवनवासी



मूलपाठ-

प्रश्न-कतिविहे णं भंते ! असन्निआउए
पन्नत्ते ?

उत्तर-गोयमा ! चउव्विहे असन्निआउए
पन्नत्ते; तंजहा-नेरइअ असन्निआउए, तिरिक्ख
मणुस्स-देवअसन्निआउए ।

प्रश्न-असण्णी णं भंते ! जीवे किं नेर-
इयाउअं पकरेइ, तिरिक्खमणु-देवाउअं पकरेइ ?

दूलार्थ-प्रश्न-भगवन् ! असंज्ञी का आयुष्य कितने प्रकार का कहा है ?

उत्तर—गौतम ! असंज्ञी का आयुष्य चार प्रकार का कहा है, वह इस प्रकार-नैरयिक-असंज्ञी-आयुष्य, तिर्यच असंज्ञी-आयुष्य, मनुष्य-असंज्ञी-आयुष्य, देव-असंज्ञी-आयुष्य ।

प्रश्न—भगवन् ! क्या असंज्ञी नारकी की आयु उपार्जन करता है ? और तिर्यच की, मनुष्य की तथा देव की आयु उपार्जन करता है ?

उत्तर—गौतम ! हाँ, नारकी की आयु भी उपार्जन करता है, और तिर्यच की, मनुष्य की अथवा देव की आयु भी उपार्जन करता है । नारकी की आयु-उपार्जन करता हुआ असंज्ञी जीव जिवन्य दस हजार की और उत्कृष्ट पल्योपम के असंख्यातवें भाग की उपार्जन करता है । तिर्यचयोनि की आयु उपार्जन करने वाला असंज्ञी जिवन्य अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट पल्योपम के असंख्यात भाग की उपार्जन करता है, मनुष्य की आयु भी इतनी ही

वना का निराकरण करने के लिए यह प्रश्न किया है कि असंज्ञी का आयुष्य क्या असंज्ञी द्वारा ही उपार्जन किया जाता है ?

गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फर्माया—
हाँ गौतम, असंज्ञी द्वारा उपार्जन किया हुआ आयुष्य है ।

आत्मा जब प्रकृष्ट अज्ञान की स्थिति में आता है, तब अपने आपको ही भूल जाता है । उसे यह पता नहीं रहता कि मैं क्या करता हूँ । तथापि भगवान् अपने निर्मल ज्ञान में सब कुछ देखते हैं । शरावी को भान नहीं होता कि वह क्या कर रहा है, क्या बोल रहा है, किधर जा रहा है, पूछने पर भी वह ठीक-ठीक उत्तर नहीं दे सकता, लेकिन समझदार आदमी शरावी की सब चष्टाएँ देखता है । इसी प्रकार मनो-लब्धि विकसित न होने से असंज्ञी जीव को मालूम नहीं होता कि वह क्या अच्छा-बुरा कर रहा है । मगर उसके आन्तरिक अध्यवसाय को हस्तामलकवत् जानने वाले ज्ञानी कह देते हैं कि वह असंज्ञी जीव नरक की आयु उपार्जन करके नरक में या स्वर्ग में, इतने समय के लिए जाता है ।

आप अपनी वाह्य चेष्टाएँ जानते हैं, मगर समस्त आन्तरिक प्रवृत्तियों को, जो प्रतिकूल हो रही हैं, जान लो तो सर्वज्ञ होते देर न लगे । किन्तु सर्वज्ञ की स्थिति प्राप्त करने के लिए पहले सर्वज्ञ के वचनों पर विश्वास-सुदृढ़ श्रद्धा करने की आवश्यकता है । ऐसा करने से एक वह दिन अवश्य आएगा जब परमात्मा में और तुममें कुछ भी अन्तर न रहेगा ।

अन्तरात्मा में क्या होता है, इस बात का किंचित्

आभास नित्य मिलता है। लेकिन बहिर्द्रष्टि पुरुष उस ओर लक्ष्य नहीं देते। उदाहरण के लिए भोजन को ही लीजिए। आप भोजन करते हैं, मगर आपको यह पता नहीं है कि यह भोजन कब किस रूप में पलटता है, उसका आपके मन पर और तन पर क्या प्रभाव पड़ता है ! लेकिन अभ्यास से पता लगना बहुत कठिन नहीं है। जैसे-जब आपकी आँखों में गर्मी भना रही है, तब आपको कोई तेज़ मसालेदार तेल की चीज़ खिलाना चाहे तो क्या आप खाँगेंगे ?

‘नहीं !’

क्योंकि आपको मालूम है कि इस भोजन का परिणाम हानिकारक होगा यद्यपि यह बात प्रत्यक्ष नहीं दीखती। इसी प्रकार आप जो-जो कार्य करते हैं, उनके विषय में शास्त्र से यह पता लग ही जाता है कि इनका फल अमुक-अमुक होगा। इस बात को पूर्ण रूप से प्रत्यक्ष जानने के लिए सर्वज्ञता की आवश्यकता है। असंज्ञी जीव नरक की आयु भी वाँधते हैं और स्वर्ग की आयु भी वाँधते हैं। कहाँ नरक की भीषण यातनाएँ और कहाँ स्वर्ग का अनुपम सांसारिक सुख ! लेकिन अपने ज्ञान में भगवान् ने जैसा देखा है, जगत् के कल्याण के लिए कह दिया है।

गौतम स्वामी, भगवान् से पूछते हैं—प्रभो ! असंज्ञी जीव मनोहीन हैं, इसलिए सभी असंज्ञी क्या नरक की समान आयु का बंध करते हैं ? भगवान् ने उत्तर दिया नहीं गौतम, यह बात नहीं है। कोई जीव जघन्य दश हजार वर्ष की आयु वाँधते हैं और कोई उत्कृष्ट पत्योपम के असंख्यातवें भाग की आयु वाँधते हैं।

बतलाई है वह भी पुण्ड्रिया मनुष्य की अपेक्षा से ही समझना चाहिए ।

असंख्यी मनुष्य अगर देवायु उपार्जन करता है तो जघन्य दस हजार वर्ष और उत्कृष्ट पल्योपम के असंख्यातवै भाग को आयु प्राप्त करता है ।

तात्पर्य यह है कि देव और नरक गति का जघन्य आयुष्य दस हजार वर्ष का और उत्कृष्ट पल्योपम के असंख्यातवै भाग का उपार्जन करता है । इसी प्रकार मनुष्य और तिर्यच का जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट पल्योपम के असंख्यातवै भाग का आयुष्य पाता है ।

गौतम स्वामी फिर पूछते हैं—भगवन् ! इन चारों आयुष्यों में से कौन किससे कम और कौन किससे ज्यादा हैं ? भगवान् उत्तर देते हैं—गौतम ! असंख्यी देव-आयुष्य सब से कम है, असंख्यी-मनुष्यायुष्य उससे असंख्यातगुणा ज्यादा है । असंख्यी, देवगति में जाता तो है, लेकिन उसका शुभ आयुष्य अधिक उपार्जन करना कठिन है । इसलिए वह देव का आयुष्य बहुत कम वाँचता है और मनुष्य का आयुष्य उसकी अपेक्षा असंख्यातगुणा अधिक वाँचता है । तिर्यच का आयुष्य, मनुष्य-आयुष्य की अपेक्षा भी असंख्यातगुणा वाँचता है । और नारकायु, तिर्यचायु की अपेक्षा असंख्यातगुणा वाँचता है ।